सुविधि ज्ञान चन्द्रिका प्रकाशन संस्था का

पुष्प क्र. २०

रत्नमाला

ग्रंथकार

प. पू. आचार्य श्री शिवकोटि जी महाराज

हिन्दी टीकाकार

प. पू. ज्ञान-ध्यान-तपोनिष्ठ, युवामुनि १०८ श्री सुविधिसागर जी महाराज.

ग्रंथ सम्पादिका

पू. बा. ब्र. आर्यिका १०५ श्री सुविधिमती माताजी

तथा

पू. बा. ब्र. आर्यिका १०५ श्री सुयोगमती माताजी

प्रकाशन सम्पादक

भरतकुमार इन्दरचन्द पापडीवाल

प्रकाशन काल

अक्तुबर १९९९

प्रथमावृत्ति

प्रति ५००० (?)

(पुर्नप्रकाशन हेतु सहयोग राशि :- २५ रू मात्र)

प्राप्तिस्थान

भरतकुमार इन्दरचन्द पापड़ीवाल

एन - ९ ए - ११५, ४९/४,

शिवनेरी कॉलनी, सिडको

औरंगाबाद - ४३१ ००३ (महा.)

द्रव्यदाता

श्रीमती सुलोचना जैन

मु.पो. आरा जि. भोजपूर (बिहार)

— : सम्पादकीय : —

वर्तमान युग में असंयम का बहुत विस्तार हो चुका है। पाँचों इन्द्रियाँ व मन उन्मुक्त होकर विषयों की ओर दौड़ रही हैं। प्राणिवध तो एक साहजिक क्रिया सी हो गयी। मनुष्य के मन की करुणा न जाने कहाँ पलायन कर गयी? वह हिंसा करने में हिचकिचाता नहीं है।

ऐसे कु-समय में चरणानुयोग पद्धति का प्रचार और प्रसार ही मानव की मानवता का जिर्णोध्दार कर सकता है। विषय-वासनाओं में ग्रस्त हुए गृहस्थ के मन को परमात्म तत्त्व की ओर मुड़ाने का कार्य चरणानुयोग ही कर सकता है। अतः चरणानुयोग का प्रचार आज़ के युग की प्रथम आवश्यकता है।

चरणानुयोग का लक्षण बताते हुए स्वामी समन्तभद्र लिखते हैं कि -

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्ति-वृध्दि- रक्षाङ्गम् ।

चरणानुयोग समयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति।। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ४५)

अर्थ :- गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारण भूत शास्त्र को सम्यग्ज्ञान चरणानुयोग कहता है।

चारित्र पालक की अपेक्षा चरणानुयोग के दो भेद हैं। गृहस्थ के चारित्र को वर्णन करनेवाला तथा मुनि के चारित्र का वर्णन करनेवाला।

"**रत्नमाला**" श्रावकों के आचरण विशेष को प्रकट करनेवाला ग्रंथ है। इस ग्रंथ में जल गालन विधि, अष्ट मूलगुण, १२ व्रत, ११ प्रतिमा, नित्य नैमित्तिक क्रियाएं आदि अनेक विषयों का वर्णन किया गया है । अतः यह ग्रंथ गागर में सागर इस उक्ति को पूर्णतया चरितार्थ कर रहा है।

इतना सुन्दर ग्रंथ, परन्तु इसे प्रचार बिलकुल ही नहीं मिला। यह भी कोई ग्रंथ है ? इससे हमारी सामान्य जनता बिलकुल ही अनभिज्ञ है। यही भाव प.पू. गुरुदेव के मन में रहा। उन्होंने स्वाध्याय के समय संघ में कहा कि "चरणानुयोग को संक्षिप्त पद्धति से समझानेवाला यह मूल्यवान् ग्रंथ समाज में प्रचार विहीन रह जाये, यह दुःख का विषय है।" मुनिश्री ने इसकी टीका लिखनी प्रारंभ की। उनके समक्ष दो लक्ष्य थे।

१. ग्रंथ का वर्ण्यविषय सर्वग्राह्य हो। तथा

२. एक ग्रंथ का स्वाध्याय करता हुआ पाठक अन्य ग्रंथों की जानकारी प्राप्त कर सके।

इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति इस टीका द्वारा पूर्ण हुई है। अत्यन्त सरल शैली में अनेक ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत करते हुए मुनि श्री ने यह टीका लिखी है। उनका यह अथक प्रयास स्पृहणीय है।

यह ग्रंथ भव्य जीवों का सतत मार्गदर्शन करता रहे-यही मंगल कामना।

आर्यिकाद्वय-सुविधि-सुयोगमती

लेखक की लेखनी से

व्युत्पत्तिकार रत्न शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं कि

जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तत्तद्रत्नमिहोच्यते।

अर्थः- जो जो अपनी जाति में उत्कृष्ट हैं, उन्हें उस-उस जाति का रत्न कहा जाता है।

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र मुख्य हैं, अतः वे मोक्षमार्गस्थ रत्नत्रय हैं।

अनेक रत्न जब एक धागे में पिरोये जाते हैं, तब रत्नमाला बन जाती है। उसी प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में श्रावकों के सम्यक् - आचरण के रत्न पिरोये गये हैं, अतः इसका रत्नमाला यह नाम सार्थक ही है।

ग्रंथ का नाम एवं ग्रंथकर्त्ता : -

स्वयं ग्रंथकर्त्ता ने ग्रंथान्त में स्वयं का व ग्रंथ का नाम दिया है।

यथा- **यो नित्यं पठति श्रीमान् रत्नमालामिमां परम् ।**

स शुध्द भावनोपेत: शिवकोटित्वमाप्नुयात् ।।

अर्थ : जो भव्य इस रत्नमाला को शुध्द भावना से युक्त होकर पढ़ता है, वह भव्य शिवकोटित्व को प्राप्त कर लेता है।

प्रस्तुत श्लोक से यह ज्ञान होता है कि इस ग्रंथ का नाम रत्नमाला तथा ग्रंथकार का नाम शिवकोटि है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक आ. शिवकोटि कब हुए? तथा उनका पूर्ण परिचय क्या है?

यह बड़ा जटिल विषय है। आचार्यों का निरहंकारित्व व श्रावकों की लापरवाही से जैन इतिहास के अनेकों प्रश्न अनुत्तरित ही रह गये हैं, क्योंकि प्रमाण मिल नहीं पाते।

– ग्रंथ का वर्ण्य विषय –

यह श्रावकाचार प्रतिपादक ग्रंथ है। अतः श्रावकाचार से सम्बन्धित अनेक विषयों का वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। लघुकाय ग्रंथ में सूक्ष्म रीति से गहन विषयों को संजोयकर ग्रंथकार ने चमत्कार ही कर दिया।

ग्रंथ के प्रारम्भ में वीर प्रभु-अनेकान्तमयी अर्हत् वचन, सिध्दसेन दिवाकर तथा स्वामी समन्तभद्र की वन्दना कर के ग्रंथकार ने ग्रंथ-रचना की प्रतिज्ञा की है।

तत्पश्चात् सम्यग्दर्शन का कल्याणकारित्व बताते हुए, सम्यग्दर्शन में कारणभूत सु-देव-शास्त्र गुरु का स्वरूप बताया, फिर सम्यग्दर्शन का लक्षण व महत्त्व प्रदर्शित किया।

उसके बाद बारह व्रतों का नामोल्लेख किया गया है। श्रावक को कैसा पानी पीना चाहिये ? भोजनालय में कैसा पानी प्रासुक है ? पानी प्रासुक कैसे होता है?इसका जो वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है, वह ग्रंथान्तरों में दुर्लभ है। यह प्रकरण अवश्य ही आज

के युग में विचारणीय है।

उसके बाद ग्यारह प्रतिमाओं के पालन करने की प्रेरणा देते हुए ग्रंथकार ने अभक्ष्य वस्तु के त्याग की चर्चा की है।

उसके अनन्तर वर्तमान में मुनि को वन में रहने का स्पष्ट निषेध कर के श्रावकों को दान धर्म के पालन की प्रेरणा दी है।

फिर चैत्यालय निर्माण की प्रेरणा, मन्दिर में देय वस्तुओं का निर्देश, विद्वानों के आदर का आदेश दिया गया है।

गृहीत व्रतों को पालन करने की प्रेरणा देते हुए ग्रंथकार ने पाँच व्रतों के परिपालन करने का फल बताया है।

तत्पश्चात् मकारों व व्यसनों का त्याग करने के विषय में उपदेश दिया है। रात्रि भोजन त्याग व सतत णमोकार मन्त्र का स्मरण करने के फल का वर्णन ग्रंथकार ने कुशलतापूर्वक किया है।

इस ग्रंथ की विशेषता नैमित्तिक क्रियाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन तथा गृहस्थाचार्य का लक्षण है।

मिथ्यामत को न मानने का उपदेश, प्रायश्चित ग्रहण करने का आदेश, व्रतरक्षा की प्रेरणा व अन्य आगमोक्त क्रियाओं का परिपालन करने का उपदेश ग्रंथकार ने दिया है।

जैनविधि बताते हुए ग्रंथकार स्पष्ट रूप से कहते हैं कि

सर्वमेव विधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः सताम्
यत्र न व्रत हानिः स्यात् सम्यक्त्वस्य च खण्डनम् ।।६६।।

अर्थः- सज्जन जिसे प्रमाणभूत मानते हैं, ऐसी सर्वलौकिक विधि जैन विधि है। वह विधि सम्यक्त्व का खण्डन व व्रतहानि को नहीं करती है।

अन्त में ग्रंथकार ने अपना व ग्रंथ का नाम प्रकट किया है।

इस तरह कुल ६७ श्लोकों में ग्रंथ का विषय समाहित हुआ है।

रत्नमाला तथा अन्यग्रंथ

एक बात अत्यन्त विचारणीय है कि अन्य ग्रंथों से साम्य प्रकट करनेवाले दो श्लोक इस ग्रंथ में पाये जाते हैं। क्यों? इसका कारण या तो सर्वज्ञ जानते हैं या स्वयं ग्रंथकार।

वे श्लोक निम्नप्रकार हैं -

१. अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारीत्येवं द्वादशधा व्रतम् ।।१४

अर्थ : - पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये १२ व्रत हैं।

आ. सोमसेन ने लिखा है कि -

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे।।

(यशस्तिलक चम्पू)

इस के चतुर्थपाद में कुछ अन्तर है, शेष श्लोक समान है।

ब्रह्म नेमिदत्त ने लिखा है कि

अणुव्रतानि पञ्चैव, त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि, गृहिणां द्वादशप्रमम् ।।

(धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार ४/१)

इस का भी चतुर्थपाद भिन्न है।

आ. जटासिंहनन्दि ने लिखा है कि

अणुव्रतानि पञ्चैव, त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि, इत्येतद् द्वादशात्मकम् ।।

(वरांगचरित्र)

इस श्लोक में भी चतुर्थ पाद परिवर्तित है।
अन्यत्र लिखा है कि -

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि एते द्वादशधा व्रतम् ।।

(व्रतसार श्रावकाचार १३)

इस श्लोक में भी चतुर्थ पाद के अतिरिक्त पूर्ण श्लोक का साम्य है।

२. मुहूर्तं गालितं तोयं, प्रासुकं प्रहरद्वयम् ।
उष्णोदकमहोरात्रं ततः सम्मूर्च्छिमो भवेत् ।। २

अर्थात :- छना हुआ पानी मुहूर्त तक, प्रासुक दो प्रहर तक तथा गर्म जल चौबीस घण्टे शुध्द रहता है। तत्पश्चात् सम्मूर्च्छिम हो जाता है।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में (१२/११०) ऐसा ही श्लोक है। अन्तर इतना ही है कि ततः की जगह पश्चात् और सम्मूर्च्छिमं की जगह सम्मूर्च्छितं लिखा हुआ है।

शास्त्र के प्रति मन में उत्पन्न हुई भक्ति ने इस कार्य को सम्पन्न कराया है। इसमें जो त्रुटियाँ अवशेष हो, उसको बुध्दिमान् शोध कर पढ़ें।

समस्त सहयोगियों को आशीर्वाद।

मुनि सुविधिसागर-

अनुक्रमणिका

श्लोक क्र.	विषय	पृष्ट क्र.
1.	वीर वन्दना	1
2.	अर्हत् - वचन की वन्दना	3
3.	आचार्य सिध्दसेन की वन्दना	5
4.	स्वामी समन्तभद्र की स्तुति	6
5.	प्रतिज्ञा	9
6.	सम्यग्दर्शन का कल्याणकारित्व	10
7.	सु-देव तथा सच्छास्त्र का स्वरूप	12
8.	साधु का स्वरूप	14
9.	सम्यग्दर्शन का लक्षण	16
10.	सम्यग्दर्शन का महत्त्व	18
11.	सम्यग्दृष्टि कहाँ उत्पन्न नहीं होता?	20
12.	व्रत धारण करने का फल	22
13.	अजरामर पद का पात्र कौन?	24
14.	बारह व्रतों का निर्देश	26
15.	अणुव्रतों का स्वरूप	27
16.	सप्त शीलव्रतों का स्वरूप	29
17.	अष्ट-मूलगुण	36
18.	कैसा जल पीने योग्य है?	38
19.	जल की मर्यादा	40
20.	प्रासुक करने की विधि	41
21.	अन्य प्रकार से प्रासुक जल	42
22.	एकादश प्रतिमा का वर्णन	43
23.	अभक्ष्य	47
24.	वर्तमान में मुनि कहाँ रहें?	49
25.	मुनियों को कौन-कौन सी वस्तु देवें?	52
26.	दान का फल	56
27.	दान के भेद	58
28.	वैयावृत्ति की प्रेरणा	60
29.	चैत्यालय बनाने का उपदेश	62
30.	जिन मन्दिर बनाने का फल	64
31.	मन्दिर में देने योग्य वस्तुएं	66
32.	पण्डितों का सम्मान	67
33.	दान की प्रेरणा	68
34.	गृहीत व्रतों को परिपालन करने की प्रेरणा	70

35.	अहिंसाव्रत का फल	71
36.	सत्य व्रत का फल	73
37.	अचौर्यव्रत का फल	75
38.	ब्रह्मचर्य व्रत का फल	77
39.	पुनः उसी को बात को दृढ करते है	79
40.	अपरिग्रह व्रत का फल	81
41.	म-कार त्यागने का फल	83
42.	मद्य के दोष	85
43.	मधु-दोष	88
44.	व्यसन निन्दा	90
45.	रात्रि भोजन त्याग का फल	92
46.	णमोकार मन्त्र के स्मरण का फल	94
47.	रात्रि में णमोकार मन्त्र का स्मरण करने का फल	96
48.	नित्य नैमित्तिक क्रिया	98
49.	अष्टमी क्रिया	99
50.	पाक्षिकी क्रिया	100
51.	चतुर्दशी क्रिया	101
52.	नन्दीश्वर क्रिया	102
53.	गृहस्थाचार्य का लक्षण	103
54.	ध्यान की प्रेरणा	104
55.	दुःख से मुक्ति	106
56.	कर्तव्याकर्तव्य	108
57.	मिथ्यामत को पोषण करने का निषेध	110
58.	मर्यादा पालन	114
59.	व्रत रक्षा	115
60.	प्रायश्चित ग्रहण	117
61.	जैन श्रावक की क्रियाएं	119
62.	जैन-विधि	120
63.	अन्तिम मंगल	122
	परिशिष्ट १ :- कौन सी भक्ति कब करनी चाहिए ?	124
	परिशिष्ट २ :- श्लोकानुक्रमणिका	129
	परिशिष्ट ३ :- पाठ भेद	131
	परिशिष्ट ४ :- टीका में प्रयुक्त ग्रंथ	134

वीर वन्दना

सर्वज्ञं सर्ववागीशं वीरं मारमदापहम् ।
प्रणमामि महामोह शान्तये मुक्तताप्तये।। १.

अन्वयार्थ.

सर्वज्ञम्	सर्वज्ञ
सर्ववागीशम्	सर्ववागीश
मारमदम्	कामदेव का मद
अपहम्	नाश करनेवाले
वीरम्	वीर को
महामोह	महा मोह की
शान्तये	शान्ति के लिए (तथा)
मुक्तता	मुक्ति की
आप्तये	प्राप्ति के लिए
प्रणमामि	नमस्कार करता हूँ।

अर्थ :- जो सर्वज्ञ हैं, वाणी के ईश्वर हैं, कामदेव के अहंकार का नाश करनेवाले हैं, ऐसे वीर जिनेश को मैं मोहनीय कर्म को नाश करने के लिए और मुक्ति को प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ :- वीर शब्द अनेक महार्थों का द्योतक है । यथा–

आ. ज्ञानमती माताजी ने लिखा है कि –

वि विशिष्टा ई लक्ष्मीः अन्तरङ्गानन्त चतुष्टय विभूति बहिरङ्गसमशरणादिरूपा च सम्पत्तिः, तां राति ददातीति वीरः। अथवा विशिष्टेन इर्ते सकल पदार्थ समूहं प्रत्यक्षी करोतीति वीरः। यदा वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारातीन् विजयते इति वीरः श्रीवर्धमानः सन्मतिनाथोऽतिवीरा महति महावीर इति पञ्चाभिधानैः प्रसिध्दः सिद्धार्थस्यात्मजः पश्चिम तीर्थंकर इत्यर्थः। अथवा कटपयपुरस्थवर्णै र्नवनव पञ्चाष्ट कल्पितैः क्रमशः। स्वरञनशून्यं संख्यामात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम्। इति सूत्रे नियमेन वकारेण चतुरङ्कोर शब्देन च इयङ्कस्तथा "अङ्कानां वामतो गतिः" इति न्यायेन चतुर्विंशत्यङ्केन (२४) वृषभादिमहावीरपर्यन्त चतुर्विंशत्यङ्केन तीर्थंकराणामपि ग्रहणं भवति।"

(नियमसार–१)

अर्थः- "वि" विशिष्ट "ई" लक्ष्मी, अर्थात् अन्तरंग अनन्त चतुष्टय विभूति और बहिरंग समवसरण आदि संपत्ति, यही विशेष लक्ष्मी है। इसको जो देते हैं, वे वीर हैं। अथवा जो विशेष रीति से "इर्ते" अर्थात् जानते हैं - सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष करते हैं, वे वीर हैं।

३. अथवा वीरता करते हैं, शूरता करते हैं, विक्रमशाली हैं अर्थात् कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं, वे वीर हैं।

४. ये वीर भगवान् , श्री वर्धमान्, सन्मति, अतिवीर और महतिमहावीर इन पाँच नामों से प्रसिद्ध श्री सिद्धार्थ महाराज के पुत्र अंतिम तीर्थंकर हैं।

५. अथवा "वीर" शब्द का चौथा अर्थ करते हैं - "कटपय" इत्यादि श्लोक का अर्थ है। क से झ तक अक्षरों में से क्रम से १ आदि से ९ तक अंक लेना। ट से ध तक भी क्रम से १ से ९ तक अंक लेना। प वर्ग से क्रमशः ५ तक अंक लेना और "य र ल व श ष स ह" इन आठ से क्रमशः ८ तक अंक लेना। इन में जो स्वर आ जावें या ञ और न आवें तो उनसे शून्य (०) लेना। इस सूत्र के नियम से वीर शब्द में वकार से ४ का अंक और रकार से २ का अंक लेना। तथा "अङ्कानां वामतो गतिः" इस सूत्र के अनुसार अंकों को उलटे से लिखना होता है। इसलिए "२४" अंक आ गया। वीर शब्द के इस २४ अंक से आदिनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों का भी ग्रहण हो जाता है। जिससे चौबीसों तीर्थंकरों को भी नमस्कार किया गया है, यह समझना।

कैसे हैं, वे वीर प्रभु?

१. सर्वज्ञ हैं :- सर्वज्ञ की परिभाषा करते हुए आ. प्रभाचन्द्र लिखते हैं कि **सर्वज्ञो यावन्निखिलार्थ साक्षात्कारी** (रत्नकरण्ड श्रावकाचार-७) जो सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार करता है, वह सर्वज्ञ है।

विश्व, कृत्स्न और सर्व ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं। सर्व शब्द का अर्थ है-अशेष तथा ज्ञ शब्द कर्तावाचक है, उसका अर्थ है जाननेवाला । जो अशेष वस्तुओं को जाने, वह सर्वज्ञ है।

सर्वज्ञ का दूसरा नाम है, केवली। जो जीव चराचर में स्थित सम्पूर्ण द्रव्यों को उनके सम्पूर्ण गुण और त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित जानता है, वह सर्वज्ञ है। यहाँ सर्वज्ञ वीर प्रभु का प्रथम विशेषण है-जो इस बात को सिध्द करता है कि वे सर्व वस्तुओं के ज्ञाता थे।

"वन्दे तद्गुण लब्धये" इसी उद्देश से सर्व प्रथम इस गुण का स्मरण किया गया है।

२. सर्ववागीश हैं :- स्याद्वाद की प्ररूपणा करने वाले सम्पूर्ण वाक् यानि वचनों में अथवा वक्ताओं में वे ईश यानि स्वामी हैं।

३. मारमदापह :- कामदेव की शक्ति को नष्ट करनेवाले हैं।

भगवान् में तीन गुण होने चाहिये-वीतरागता-सर्वज्ञता व हितोपदेशिता। उपर्युक्त श्लोक में मारमदापह विशेषण वीतरागत्व का प्रतिनिधि है, सर्वज्ञ शब्द सर्वज्ञता का द्योतक है, तो सर्व वागीश विशेषण हितोपदेशीत्व का प्रदर्शक है।

ग्रंथकार कहते हैं कि मोहनीय कर्म के शमन हेतु व मुक्ति लाभ करने हेतु, मैं वीर प्रभु को नमस्कार करता हूँ।

अर्हत् वचन की वन्दना

सारं यत्सर्वसारेषु वन्द्यं यद्वंदितेष्वपि।
अनेकान्तमयं वन्दे तदर्हद्वचनं सदा।।२

अन्वयार्थ

यत्	जो
सर्वसारेषु	सर्व सारों में
सारम्	सारभूत है
यत्	जो
वंदितेषु	नमस्करणियों में
अपि	भी
वन्द्यम्	नमस्करणीय है
तत्	उस
अनेकान्तमयम्	अनेकान्तमयी
अर्हत्वचनम्	अर्हत् वचन को (मैं)
सदा	सर्वदा
वन्दे	नमस्कार करता हूँ।

(ज्ञातव्य है कि श्रावकाचार संग्रह में ''यत्सर्व सारेषु'' की जगह ''यत्सर्व शास्त्रेषु'' है।)

अर्थ :- समस्त सारभूत वस्तुओं में जो सारभूत है, जो वन्दनियों में भी परम वन्द्य हैं, ऐसे अनेकान्तमयी जिन वचनों को मेरा सदा नमस्कार हो।

भावार्थ :- आचार्य सिध्दसेन दिवाकर ने लिखा है कि

जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो, णमो अणेगन्त वायस्स।।

अर्थ :- जिसके विना लोक व्यवहार भी सर्वथा चलता नहीं, उस भुवन के अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार है।

अनेकान्त की परिभाषा करते हुए आ. धर्मभूषण लिखते हैं कि **अनेके अन्ता धर्माः सामान्यविशेषा पर्याया गुणा यस्येति सिध्दाऽनेकान्तः।** (न्यायदीपिका ३/७६) जिसके सामान्यविशेष पर्याय और गुण रूप अनेक अन्त या धर्म हैं, वह अनेकान्त रूप सिध्द होता है।

अनेकान्त में अनेक और अन्त ये दो शब्द है। अनेक शब्द एकाधिक संख्या को अभिव्यक्त करता है। अन्त शब्द के अनेक अर्थ हैं। यथा–निकट–अन्तिम–सुन्दर–सीमा,

समीप आदि।

अनेकान्त का अर्थ है, जो अनेक छोर स्वीकार करता है।

शंका :- क्या अनेकान्त छल नहीं है?

समाधान :- नहीं। अनेकान्त न तो छल है और वह संशय वाचक भी नहीं है। छल में पर के वचनों का विघात किया जाता है, परन्तु अनेकान्त में वचन विघात नहीं होता" अनेकान्त सुनिश्चित् मुख्य और गौण की विवक्षा से सम्भव अनेक धर्मों का सुनिर्णीत रूप से प्रतिपादन करता है।

अर्हत् - वचन अनेकान्त-मय है। अनेकान्त जैन दर्शन की दिव्य विभूति तथा जैनागम का मूल है। जिस प्रकार मूल के अभाव में वृक्ष का अस्तित्व नहीं रह पाता, उसी प्रकार अनेकान्त के विना तत्त्वज्ञान का वृक्ष रह नहीं पाता। जिस प्रकार चन्द्रमा के विना चन्द्रिकाओं की गरिमा द्योतित हो नहीं पाती, उसी प्रकार अनेकान्त रूपी चन्द्रमा के विना तत्त्वज्ञान की चन्द्रिकाएं ज्योतिहीन हो जाती हैं।

इस अनुपम सिध्दान्त को समझे बिना इस धरती पर विभिन्न धर्म-दर्शन-पंथ-मत-और सम्प्रदाय आपस में विवाद कर रहे हैं। प्रत्येक धर्म या मत का अनुयायी दूसरे को असत्य बताता है, परन्तु जिनेन्द्र-वाणी किसी को भी असत्य नहीं कहती अपितु उसके अनुसार समस्त मत सत्यांश है। अतः अर्हत् वचन सैध्दान्तिक मतभेद रूपी रोग को नष्ट करनेवाली रामबाण औषधि है।

अनेकान्त सत्य की दिव्य झाँकी दिखाता है, चिन्तन के क्षेत्र में अपूर्व प्रकाश फैलाता है तथा परस्पर विरोधि प्रतीत होने वाले धर्मों को एक सा खड़ा कर के उनका सौन्दर्य एवं महत्त्व बढ़ाता है। अतः अनेकान्त सम्पूर्ण सारभूत वस्तुओं में सार व समस्त नमस्करणियों में वह परम नमस्करणीय है।

अनेकान्त का स्तवन करते हुए आ. अमृतचन्द्र लिखते हैं कि

परमागमस्यजीवं निषिध्द जात्यंधसिंधुरविधानम्।
सकल नय विलसितानां, विरोध मथनं नमाम्यनेकान्तम् ।

(पुरुषार्थ सिध्द्युपाय –२)

अर्थ : - उत्कृष्ट आगम अर्थात् जैनसिध्दान्त का प्राण स्वरूप, जन्म से अंधे पुरुषों के द्वारा होने वाले हाथी के स्वरूप विधान का निषेध करने वाले समस्त नयों की विवक्षा से विभूषित पदार्थों के विरोध को दूर करनेवाले अनेकान्त धर्म "स्याद्वाद" को मैं (आचार्यवर्य अमृतचन्द्र महाराज) नमस्कार करता हूँ।

आचार्य सिध्दसेन की वन्दना

सदावदात महिमा सदाध्यान परायणः।
सिध्दसेनमुनिर्जीयाद् भट्टारक पदेश्वरः।। ३

अन्वयार्थ –

सदा	हमेशा
अवदात	निर्दोष
महिमा	महिमा (से युक्त)
सदा	सदा
ध्यान	ध्यान में
परायणः	परायण हैं (ऐसे)
भट्टारक	भट्टारक
पदेश्वर	पद के स्वामी
सिध्दसेन	सिध्दसेन
मुनिः	मुनि
जीयात्	जयवन्त रहें।

अर्थ :- जिनकी महिमा निर्दोष हैं, जो ध्यान-परायण हैं, जो भट्टारक पद के स्वामी हैं, वे मुनि सिध्दसेन जयवन्त रहें।

भावार्थ :- भगवान् महावीर के निर्वाण गमन के पश्चात् केवली व श्रुतकेवलियों के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना हुई। तदनन्तर धर्मध्वज को दिगदिगन्त में फहराने का काम अंग और अंगांशधारी आचार्यों ने किया।

उनके स्वर्ग-गमन के पश्चात् विशुध्द चरित्रवान्, जिनेन्द्रभक्त, महाज्ञानी आचार्यों ने जैन धर्म के संरक्षण का प्रयत्न किया।

दुर्भाग्यवशात् कलिकाल के प्रभाव से मिथ्यात्व का प्रभाव बढ रहा था, स्याद्वाद धर्म तो मूक दर्शकवत् हो । गया और वस्तु तत्त्व के एक-एक अंश को पकड़कर यही सत्य है, ऐसा आग्रह करनेवाले मूढ़ जीव आपस में युध्द करने लगे। "अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग" इस कहावत को चरितार्थ करने वाले मूढ़ भव्य जीवों को ठगने लगे। स्व-पर विघातक जीवों के द्वारा सामान्य जनता पथभ्रष्ट होने लगी, ऐसे विकट समय में करुणा कुबेर, स्याद्वाद विद्याधिपति, अकिंचन श्रमणेश्वर समक्ष आये और उन्होंने सटीक युक्तियों द्वारा मिथ्याधर्म को विनष्ट करने का प्रयत्न किया। उन परम कृपालु आचार्य भगवन्तों में एक थे-सिध्दसेन दिवाकर।

दिवाकर विशेषण है, जो उनके ज्ञानातिशय को दर्शाता है। यद्यपि उनका प्रामाणिक परिचय उपलब्ध नहीं है, तथापि परवर्ती आचार्यों के द्वारा उनका आदरपूर्वक स्मरण करना, उनके महत्त्व को प्रकट करता है। कैसे हैं, वे सिध्दसेन दिवाकर?

१. निर्दोष महिमावान् हैं।

२. आर्त्तरौद्र दो ध्यानों से पूर्णतः अलग मोक्ष के कारणीभूत धर्मध्यान में निरन्तर लीन होने से ध्यान-परायण हैं।

३. भट्टारक हैं, अर्थात् जैनधर्म के परम प्रभावक हैं।

ऐसे उस मुनिश्रेष्ठ को ग्रंथकार ने नमन किया है।

स्वामी समन्तभद्र की स्तुति

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः।
तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः ।।

अन्वयार्थः

स्वामी	स्वामी
समन्तभद्र	समन्तभद्र
अहर्निशम्	सतत
मे	मेरे
मानसे	मन में
तिष्ठतात्	विराजें (वे)
अनघः	निष्पाप हैं
जिनराज	जिनराज हैं
अद्य	आज
शासन	शासन रूपी
अम्बुधि	सागर के
चन्द्रमाः	चन्द्रमा है।

अर्थ : निष्पाप, सम्यग्दृष्टियों के राजा, जिनशासन रूपी समुद्र के विकासक चन्द्रमा स्वामी समन्तभद्र मेरे मन में हमेशा विराजें।

भावार्थः जैन समाज में जितने भी प्रतिभाशाली, सध्दर्म प्रचारक, विद्वानों में सुपूज्य आचार्यवृन्द हुए हैं, उन में समन्तभद्र का नाम शीर्षस्थ है ।

स्वामी विशेषण समन्तभद्र में "तिल में तैलवत् " घुल-मिल गया है। परवर्ती आचार्यों ने समन्तभद्र को स्मरण कर अनेक उपाधियों से अलंकृत किया है। अकलंक देव ने स्याद्वाद तीर्थ प्रभावक और सन्मार्ग परिपालक कहा, तो आचार्य विद्यानन्द ने समन्तभद्र को स्याद्वाद मार्गाग्रणी माना है, वादिराज उन्हें सर्वज्ञ प्रदर्शक मानते हैं, तो मलयागिरि उन्हें आद्य स्तुतिकार स्वीकार करते हैं। शिलालेखकों ने तो विशेषणों की झड़ी ही लगा दी। शास्त्र कर्त्ता, श्रुतकेवली सन्तानोन्नायक, समस्त विद्यानिधि, वीर शासन की सहस्त्र गुणी वृध्दि करनेवाला, कलिकाल गणधर, तत्त्वज्ञान प्रसारक आदि अनेक विशेषण शिलालेखों में आपके लिए पाये जाते हैं।

वादीगण समन्तभद्र के समक्ष "त्राहिमाम् " करते थे। इस बात को अभिव्यक्त करते समय अजितसेनाचार्य ने लिखा है कि,

कुवादिनः स्वकान्तानां निकटे पुरुषोक्तयः।
समन्तभद्र यत्यग्रे पाहि पाहीति सूक्तयः।।

(अलंकार-चिन्तामणि ४/३२५)

अर्थ : कुवादियों-मिथ्यादृष्टियों की उक्तियाँ अपनी प्रियतमाओं के समक्ष पौरुष युक्त व आचार्य समन्तभद्र के समक्ष रक्षा करो-रक्षा करो, इस प्रकार की होती हैं।

इस सदी में "सर्वोदय" शब्द का प्रयोग आचार्य विनोबा भावे ने अत्यधिक मात्रा में किया। यह शब्द उन्होंने समन्तभद्रागम से ही लिया है।

समन्तभद्र का स्तुतिगान करते हुए आ. शुभचन्द्र लिखते हैं कि -

समन्तभद्रादि कवीन्द्र भास्वतां,
स्फुरन्ति यत्रामलसूक्ति रश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां
न तत्र किं ज्ञानलवोध्दता जनाः।।

(ज्ञानार्णव १/१४)

अर्थ : जहाँ समन्तभद्रादिक कवीन्द्र रूपी सूर्यों की निर्मल उत्तम वचन रूप किरणें फैलती हैं, वहाँ ज्ञान लव से उध्दत खद्योत के समान मनुष्य क्या हास्यता को प्राप्त नहीं होंगे? अवश्य होंगे।

आचार्य जिनसेन लिखते हैं कि

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्ना कुमताद्रयः।।
कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते।।

(आदिपुराण भाग - १/४२-४३)

अर्थ: मैं कवि समन्तभद्र को नमस्कार करता हूँ जो कि कवियों के लिए ब्रह्मा हैं और जिन के वचन रूपी वज्रपात से मिथ्यामत रूपी पर्वत चूर चूर हो जाते हैं। कविगण, गमकगण, वादीगण व वाग्मीगण इन सभी के मस्तक पर श्री समन्तभद्र स्वामी का यश चूडामणि के समान शोभित होता है।

आचार्य विद्यानन्द जी भी लिखते हैं कि

श्री वर्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्रमद्भूतबोध महिमानमनिन्द्यवाचम् ।
शास्त्रावतार रचितस्तुतिगोचराप्त-मीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयास्य।।

(अष्टसहस्री)

संस्कृत टीका : अथवा अभिवन्द्य। कम् ? समन्तभद्रं समन्तभद्राचार्यम् । की दृशम्? श्री वर्धमानं क्रिया निखिल विद्यालङ्कार निरवद्य स्याद्वाद विद्या विभवाधिपत्य लक्षणया लक्ष्म्या वर्धमानमेधमानम् । साक्षात् कृत सकल वाङ.मयत्वेन समस्त विद्याविद परमैश्वर्य मातिष्ठमानस्य स्याद्वाद विद्याग्र गुरोर्महामुनेः श्री वर्धमानतायां विवादाभावात् भूयः की दृशम् ? अद्भुतबोध महिमानम् । उद्भूतो बोधस्य महिमा भव्यानां कलिकालेप्यकलङ्क भावाविर्भावाय स्याद्वाद तत्त्वसमर्थने पटिमा यस्य तम् । भूयोऽपि कीदृशम् ? अनिन्द्यवाचम्।

अनिन्द्या सप्तभङ्गीसमालिङ्गिता वागास्तमीमांसा स्तुतिर्यस्य तम् । अनेन स्याद्वादविद्याधिपत्यं भव्यकलङ्क - भावाविर्भावना वैदग्ध्यं तीर्थप्रभावना प्रागल्भ्यमिति विशेषणत्रयेण तीर्थमित्येतदादौ कृत्वेत्येतदन्ते वृत्तांशे वाक्यत्रयोपदर्शितं सूरे विशेषणत्रयं संबोधितम् । तयाद्येन विशेषणेन सर्वपदार्थ तत्व विषय स्याद्वादपुण्योदधेरुध्दृत्यैतद्वाक्यमाश्लिष्टं भगवानयमाचार्य स्याद्वाद विद्याविभवाधिपतिस्तद्विद्या महोदधेरुध्दृत्य प्रकरण मारचयितृत्वात् । यथा सकलश्रुत विद्यामहोदधेरूध्दृत्योत्तराध्ययनप्रकरणमारचयन् भद्रबाहुस्तद्विद्याविभवाधिपतिरित्युपपादनात् ।द्वितीयेन भव्यानामव भावकृतये काले कलावित्येतदिष्टं स्पृष्टम् । तृतीयेन तीर्थं प्रभावीत्येतदुपक्षिप्तमिति । विशेष्यं तु प्रसिध्दमेव।।

अर्थ : श्री समन्तभद्र **स्वामी को नमस्कार** कर के। कैसे हैं **समन्तभद्रस्वामी**? "श्रीवर्धमानम् " निर्दोष स्याद्वाद विद्या के वैभव की आधिपत्य-लक्षण लक्ष्मी से जो वृध्दि को प्राप्त हैं। पुनः कैसे हैं ? "उद्‌भूत बोधमहिमानम् " भव्य जीवों को इस कलिकाल में भी कलंकरहित निर्दोष विद्या को प्रकट करने के लिए, स्याद्वाद तत्त्व को प्रकट करने में जिनका ज्ञान समर्थ है। पुनः कैसे हैं? "अनिंद्यवाचम् " सप्तभंगी से युक्त आप्तमीमांसा नाम की स्तुति जिन्होंने रची हैं, ऐसे श्री समन्तभद्र स्वामी को नमस्कार कर के यह आप्त मीमांसा की टीका मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

ग्रंथकार ने भी स्वामी समन्तभद्र की स्तुति की है। कैसे हैं वे समन्तभद्र?

१. **अनघ** - अघ यानि पाप, उससे वे रहित हैं।

२. **जिनराज** - जिन यानि सम्यग्दृष्टि, उनके वे राजा हैं।

३. **शासनाम्बुधि चन्द्रमा** - शासन यानि जैनधर्म, अम्बुधि यानि सागर। जिस तरह चन्द्रमा की कलायें समुद्र को विकसित करती है, उसी प्रकार जिनशासन रूपी सागर को समन्तभद्र रूपी चन्द्रमा विकसित कर रहा था।

आज भी युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा, स्तुति विद्या, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, स्वयंभू स्तोत्र जैसी समन्तभद्र की महाकृतियों को पढ़कर सम्यग्दृष्टि भव्य निज आत्म कल्याण कर रहे हैं ।

वैसे निर्देश मिलता है कि, जीवसिध्दि, तत्त्वानुशासन, प्राकृत व्याकरण, प्रमाण पदार्थ, कर्म प्राभृत टीका व ग्रंथहस्ति महाभाष्य भी आपकी ही पावन कृतियाँ हैं - परंतु वे आज अनुपलब्ध हैं।

प्रतिज्ञा

वर्धमानजिनाभावाद् भारते भव्य जन्तवः ।
कृतेन येन राजन्ते तदहं कथयामि वः ।। ५

अन्वयार्थ

वर्धमान	वर्धमान
जिन	जिनदेव के
अभावात्	अभाव से
भारते	भरत क्षेत्र में
भव्य	भव्य
जन्तवः	प्राणी
येन	जिस
कृतेन	क्रिया से
राजन्ते	शोभायमान होते हैं
तत्	उसको
वः	आप सब के लिए
अहं	मैं
कथयामि	कहूंगा।

अर्थ : वर्धमान जिनेन्द्र के अभाव में भरत क्षेत्रस्थ जीव जिन क्रियाओं से शोभायमान होते हैं, उसको मैं आप सभी के हेतु कहूंगा।

भावार्थ : वर्धमान शब्द विशेषण और नाम दोनों रूप में प्रयुक्त होता है। आचार्य जयसेन वर्धमान शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं कि **अव समन्तादृध्दं मानं प्रमाणं ज्ञानं यस्य स भवति वर्धमानः** (प्रवचनसार-१) जो सब तरफ से अपने में उन्नत ज्ञान को धारण करते हैं, वे वर्धमान है।

भगवान् महावीर का जन्म नाम भी वर्धमान है।

इस कारिका में वर्धमान संज्ञा शब्द है- अतः चौबीसवें तीर्थंकर का ग्रहण करना चाहिये।

जबतक जिनेन्द्र प्रभु का विहार इस भारत भूमि पर हो रहा था, तबतक धर्म का स्वरूप वे अपने दिव्यध्वनि द्वारा प्रकट करते थे। उनके दर्शन भी मिथ्यात्व को खण्ड-खण्ड कर सम्यग्दर्शन प्रदान करता था तथा कषायें मन्द हो जाने से शुभ क्रियाओं में स्वयमेव प्रवृत्ति हो जाती थी।

जिनेन्द्र प्रभु के मोक्ष जाने के बाद धर्म देशना का कार्य ३ केवलियों ने किया, तत्पश्चात् श्रुतकेवली, अंग-अंगांश ज्ञानधारी महामुनियों ने किया।

वर्तमान में भरत क्षेत्र में न तो केवली है, न श्रुत केवली। इतना ही क्या? अंग-अंगांशधारी सन्त भी धरती पर विद्यमान नहीं हैं। ऐसे कठिन स्थिति में एक सद्गृहस्थ अपनी क्रियाओं के विषय में बोध प्राप्त कैसे करें?

ग्रंथकार कहते हैं कि "उन क्रियाओं का वर्णन मैं करूंगा।"

सम्यग्दर्शन का कल्याणकारित्व

सम्यक्त्वं सर्वजन्तूनां श्रेयः श्रेय पदार्थिनाम् ।
विना तेन व्रतः सर्वोऽप्यकल्पो मुक्तिहेतवे।।६

अन्वयार्थ

श्रेयः	कल्याणकारी
पदार्थिनाम्	पदार्थों में
सर्व	सभी
जन्तूनाम्	प्राणियों को
सम्यक्त्वम्	सम्यक्त्व
श्रेयः	कल्याणकारी है
तेन	उस के
विना	विना
सर्वः	समस्त
व्रतः	व्रत
अपि	भी
मुक्तिहेतवे	मुक्ति के कारण
अकल्पः	नहीं कहे हैं।

अर्थ : समस्त प्राणियों के लिए सम्यक्त्व सर्वाधिक कल्याणकारी है। उसके विना गृहीत व्रत मोक्ष के कारण नहीं होते।

भावार्थ : यहाँ सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रदर्शित किया जा रहा है।

स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है कि -

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभृताम् ।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ३४)

अर्थ : शरीर धारियों को सम्यक्त्व के समान तीनों लोकों में अन्य कोई भी सुखकारक नहीं है तथा प्राणियों को मिथ्यात्व के समान तीनों कालों में और तीनों लोकों में दुःख देने वाला दूसरा कोई भी नहीं है।

सम्यग्दर्शन धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है। सम्यग्दर्शन मोक्षमहल का प्रथम सोपान है। सम्यक्त्व सम्पूर्ण रत्नों में महारत्न है, सर्व योगों में महायोग है। सम्यग्दर्शन का आगमन होते ही, अनन्त संसार का विनाश हो जाता है। सम्यग्दृष्टि को दुर्गति के कारणभूत कर्मों का आश्रव नहीं होता।

सम्यक्त्व का महत्त्व बताते हुए पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि -

अधिष्ठानं भवेन्मूलं प्रासादानां यथा पुनः ।
तथा सर्व व्रतानां च मूलं सम्यक्त्वमुच्यते।।

(पूज्यपाद श्रावकाचार – ११)

अर्थ : जैसे सभी भवनों का आधार उसका मूल (नींव) है। उसी प्रकार सर्व व्रतों का मूल आधार सम्यक्त्व कहा गया है।

सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान अज्ञान है व चारित्र मिथ्या चारित्र है।

आ. समन्तभद्र ने लिखा है कि –

दर्शनं ज्ञान चारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते।।
विद्यावृत्तस्य संभूतिः स्थितिवृध्दिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार – ३१–३२)

अर्थ : सम्यग्दर्शन साधुता में, समीचीनता में ज्ञान चारित्र से पहले ही व्याप्त हो जाता है। इसी से उस सम्यग्दर्शन को आचार्य मोक्षमार्ग में कर्णधार कहते हैं।

जिस प्रकार बीज का अभाव होने पर वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, बढ़ना तथा फल का प्राप्त होना नहीं होता, उसी प्रकार सम्यक्त्व के न होने पर ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृध्दि तथा फल की प्राप्ति नहीं होती।।

सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होने पर अष्ट प्रवचन मातृका प्रमाण ज्ञान तथा अल्पचारित्र भी मोक्ष का कारण होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन से हीन विशाल ज्ञान व कायक्लेश मोक्ष का कारण नहीं है।

सु—देव तथा सच्छास्त्र का स्वरूप

निर्विकल्पश्चिदानन्दः परमेष्ठी सनातनः।
दोषातीतो जिनो देवस्तदुपज्ञं श्रुतिः परा।। ७

अन्वयार्थ :

निर्विकल्पः	निर्विकल्प
चिदानन्दः	चिदानन्द
परमेष्ठीः	परमेष्ठी
सनातनः	सनातन
दोषातीतः	दोषरहित
जिनः	जिनेन्द्र (ही)
देवः	देव हैं
तत्	उनके द्वारा
उपज्ञम्	कहा हुआ
परा	उत्कृष्ट
श्रुति :	शास्त्र है।

अर्थ : जो निर्विकल्प हैं, चिदानन्द हैं, सनातन हैं, दोषातीत हैं, वे जिनेन्द्र देव हैं। उनके द्वारा कथित शास्त्र ही उत्कृष्ट शास्त्र है।

भावार्थ : संसार में भगवान् के विषय में नाना मत प्रचलित हैं, परन्तु वे सब श्रेयो मार्ग के प्रदाता न होने से मिथ्या हैं। फिर सम्यक्-देव का स्वरूप क्या है? जिनेन्द्र देव ही सच्चे देव हैं। कैसे हैं वे? ग्रंथकार ने उनका स्वरूप स्पष्ट करते हुए पाँच विशेषण दिये हैं।

१. निर्विकल्प :- विकल्प का अर्थ राग अथवा इच्छा है। जिनेन्द्र प्रभु ने मोहनीय कर्म का पूर्णतया उच्चाटन कर दिया है। अतः उनमें किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न नहीं होती। इसलिए उन्हें निर्विकल्प कहा जाता है।

२. चिदानन्द :- संसार के समस्त प्राणी इन्द्रियजनित सुख- दुःख का उपभोग कर रहे हैं। जिन्होंने वेदनीय कर्म का सम्पूर्ण नाश कर दिया है, ऐसे जिनेन्द्र देव निरन्तर चैतन्य का परमानन्द प्राप्त करते हैं।

३. परमेष्ठी :- इस शब्द को परिभाषित करते हुए आ. प्रभाचन्द्र लिखते हैं कि, **परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी** (रत्नकरण्ड श्रावकाचार-७)

अर्थ : इन्द्रादिकों के द्वारा वन्दनीय परमपद में वे रहते हैं – अतः वे परमेष्ठी हैं।

४. सनातन :- सनातन शब्द-नित्य-निरन्तर-शाश्वत आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।

जो नित्य केवलज्ञान व केवलदर्शन रूप स्वभाव में रहते हैं, वे सनातन हैं अथवा जो चतुर्गति रूप संसार से मुक्त हो कर नित्य पद को प्राप्त कर चुके हैं, वे सनातन हैं अथवा जिन्होंने शाश्वत मोक्ष स्थान को प्राप्त कर लिया हैं, वे सनातन हैं।

जिनेन्द्र प्रभु ने अपने शाश्वत आत्मस्वभाव को प्राप्त कर लिया है, उन्होंने मोक्ष पद प्राप्त कर लिया है – अतः वे सनातन हैं।

५. **दोषातीत** :- दोष १८ होते हैं-क्षुधा-तृषा-जरा-आतंक-जन्म-रोग-भय-स्मय-राग-द्वेष-मोह-चिन्ता-अरति-निद्रा-विस्मय-मद - स्वेद और खेद। ये दोष जिनेन्द्र प्रभु में नहीं पाये जाते, अतः वे दोषातीत कहलाते हैं।

जिनेन्द्र द्वारा कथित शास्त्र को ही सच्चा शास्त्र कहते हैं। सच्चे शास्त्र की परिभाषा करते हुए आ. समन्तभद्र कहते हैं कि –

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं, शास्त्रं कापथ घट्टनम् ।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार – ९)

अर्थ : जिसको प्रथम आप्त ने कहा हो, जो दूसरों से खण्डित न किया जा सके, नहीं हैं तत्त्वों में विरोध जिसके तथा तत्त्वों का उपदेश करने वाला हो, सर्व भव्य जीवों का हितकारी हो और खोटे मार्ग को दूर करने वाला हो, वही शास्त्र है।

जो एकान्तवाद के विष से दूषित है - विषय और कषायों का पोषण करनेवाला है, ऐसे कुलिंगियों द्वारा कथित शास्त्र सच्छास्त्र नहीं है - यह तात्पर्य है।

साधु का स्वरूप

दिगम्बरो निरारम्भो नित्यानन्दपदार्थिनः।
धर्मदिक् कर्मधिक् साधुर्गुरुरित्युच्यते बुधैः ॥८

अन्वयार्थ :

दिगंबरः	दिगंबर
निरारम्भः	आरम्भ से रहित
नित्यानन्द पद	नित्यानन्द पद के
अर्थिनः	इच्छुक
धर्मदिक्	धर्म का वर्धन करनेवाले
कर्मधिक्	कर्म को जलानेवाले
साधुः	साधु
गुरुः	गुरु हैं
इति	ऐसा
बुधैः	बुधजनों के द्वार
उच्यते	कहा गया है।

अर्थ : जो दिगम्बर हैं, निरारम्भ हैं, नित्यानन्द पद के इच्छुक हैं, जो धर्म को बढ़ानेवाले हैं, जो कर्म को जलानेवाले हैं, वे साधु हैं - ऐसा बुधजनों ने कहा है।

भावार्थ : यहाँ सच्चे साधु का स्वरूप बताया जा रहा है। जो आत्म तत्त्व को साधते हैं, वे साधु हैं। साधु का स्वरूप बताते हुए नेमिचन्द्र सिध्दान्त चक्रवर्ती लिखते हैं कि –

दंसणणाण समग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्च सुध्दं साहू स मुणी णमो तस्स॥

(द्रव्यसंग्रह - ५४)

अर्थ : जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्ष का मार्गभूत और सदा शुद्ध ऐसे चारित्र को प्रकट रूप से साधते हैं, वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं, उनके अर्थ मेरा नमस्कार हो।

इस श्लोक में साधु के लिए ५ विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

१. दिगम्बर : दिगेव अम्बरं यस्य सः दिगम्बरः, परिग्रहरहितमित्यर्थः।

दिशा ही है वस्त्र जिसका, वह दिगम्बर है। परिग्रह रहित यह उसका अर्थ है। अर्थात् जिसने बाह्याभ्यन्तर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर के यथाजात (नग्न) रूप धारण किया है, वह दिगम्बर है।

२. निरारम्भ : आरम्भो हिंसनशीलानां कर्मोच्यते। (तात्पर्यवृत्ति ७/१५)

अर्थ : हिंसन शील मनुष्यों को कर्म का आरम्भ कहते हैं। **आरम्भो नास्ति यस्य सः निरारम्भः।** जिसने आरम्भ कार्यों का पूर्णतया त्याग कर दिया है, वह निरारम्भ है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने निरारम्भ का अर्थ करते हुए कहा है कि, जिसने कृष्यादि व्यापार को छोड दिया है, वह निरारम्भ है।

यथा परित्यक्त कृष्यादि व्यापारः। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार-१०)

३. **नित्यानन्द पदेच्छु** : स्व.समय की साधना में निरत साधु गण प्रति समय अतीन्द्रिय सुख में मग्न रहते हैं। प्रतिसमय असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करनेवाले वे तपोधन सम्पूर्ण कार्य मोक्ष पाने के लिए करते हैं, क्योंकि मोक्ष में नित्य आनन्द है। अतः ग्रंथकार ने मुनि को नित्यानन्द पदेच्छु कहा है।

४. **धर्मदिक्** : **चारित्तं खलु धम्मो** (प्रवचनसार-७) यथार्थतः चारित्र ही धर्म है। अथवा **सद्दृष्टि ज्ञान वृत्तानि धर्मम्** (रत्नकरण्ड श्रावकाचार-३)

अर्थ : सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही धर्म है।

मुनिराज उस धर्म की वृध्दि करने वाले हैं।

५. **कर्मधिक्** : आत्मसाधना का फल कर्म विप्रमोक्ष है। मुनिराज प्रति समय सातिशय तप व परम संयम के द्वारा कर्मों का विनाश करते हैं, अतएव ग्रंथकार ने उन्हें कर्मधिक् कहा है।

इन पाँच विशेषणों से विशिष्ट साधु ही गुरु है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

अमीषां पुण्यहेतूनां श्रध्दानं तन्निगद्यते।
तदेव परमं तत्त्वं तदेव परमं पदम् ।।९.

अन्वयार्थ :

अमीषाम्	उन पर
पुण्य हेतूनाम्	पुण्य के हेतुभूत
श्रध्दानम्	श्रध्दान को
तत्	वह (सम्यग्दर्शन)
निगद्यते	कहा जाता है
तत्	वह
एव	ही
परमम्	परम
तत्त्वम्	तत्त्व है
तत्	वह
एव	ही
परमम्	परम
पदम्	पद है।

अर्थः देव-शास्त्र-गुरु पर जो कि पुण्य के हेतु हैं - उन पर श्रध्दान करना, सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन ही परम तत्त्व और परम पद है।

भावार्थ : संस्कृत भाषा में "सम् " नामक एक उपसर्ग है, जिसका अर्थ है, अच्छी तरह से। "अञ्चगतिपूजनयोः" इस नियमानुसार अञ्च धातु का अर्थ गमन करना अथवा पूजन करना है। "समञ्चतीति सम्यक् " इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अच्छी तरह से गमन कर रहा हो अथवा जो निजात्मा के गमन स्वभाव में परिणमन कर रहा हो, वह सम्यक् है, ऐसा अर्थ सम् - अञ्च में क्विप् प्रत्यय लगाने पर बनता है।

यह नियम है कि जो धातु गमनार्थक होती हैं, वे ज्ञानार्थक भी होती हैं। जब अञ्च धातु ज्ञानार्थक मानी जायेगी तब अर्थ होगा, सम्पूर्ण पदार्थों को सम्यक् प्रकार से जानना।

आचार्य अकलंक देव ने लिखा है कि –

"सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः क्वयन्तो वा। सम्यगित्ययं निपातः प्रशंसार्थो वेदितव्यः सर्वेषांप्रशस्तरूपगतिजातिकुलायुर्विज्ञानादीनाम् आभ्युदयिकानां मोक्षस्य च प्रधान कारणत्वात्। "प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनम्"। ननु च "सम्यगिष्टार्थ तत्त्वयोः" इति वचनात् प्रशंसार्थाभाव इति, तन्न, अनेकार्थत्वान्निपातानाम् । अथवा सम्यगिति तत्त्वार्थो निपातः, तत्त्वं दर्शनं सम्यग्दर्शनम् " अविपरीतार्थ विषयं तत्त्वमित्युच्यते,

अथवा क्वचन्तोऽयं शब्दः समञ्चतीति सम्यक्। यथा अर्थोऽवस्थितस्तथैवावगच्छतीत्यर्थः।

(राजवार्तिक १/२/१)

अर्थ : 'सम्यक्' यह प्रशंसार्थक शब्द (निपात) या क्वयन्त प्रत्ययान्त है। सम्यक् शब्द को निपात, प्रशंसा अर्थ में जानना चाहिए क्योंकि यह प्रशंसा रूप, गति, जाति, आयु, विज्ञान आदि अभ्युदय और निःश्रेयस् का प्रधान कारण होता है। प्रशस्त दर्शन सम्यग्दर्शन है।

शंका : "सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः" इस प्रमाण के अनुसार सम्यक् शब्द का प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थ में होता है अतः इसका प्रशंसा अर्थ उचित नहीं है।

समाधान : निपात शब्द अनेकार्थक हैं, इसलिए प्रशंसा अर्थ मानने में कोई विरोध नहीं है। अथवा सम्यक् शब्द का अर्थ तत्त्व में निपात किया जाता है, जिसका अर्थ है तत्त्वदर्शन सम्यग्दर्शन। अविपरीत अर्थ को तत्त्व कहते हैं। अथवा सम्यक् शब्द क्विप् प्रत्ययान्त है। इसका अर्थ है, जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही माननेवाला।

देव शास्त्र और गुरु पर किया गया श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के महत्त्व को बताते हुए आ. कुन्दकुन्द लिखते हैं कि –

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्ख मग्गस्स।।

(दर्शनपाहुड – ११)

अर्थ : जिस प्रकार मूल से वृक्ष का स्कन्ध और शाखाओं का परिवार वृद्धि आदि अतिशय से युक्त होता है, उसी प्रकार जिन दर्शन-आर्हत् मत अथवा जिनेन्द्र देव का प्रगाढ़ श्रद्धान मोक्ष मार्ग का मूल कहा गया है।

ग्रंथकार कहते हैं कि सम्यक्त्व ही परम तत्त्व है एवं सम्यक्त्व ही परम पद है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व

विरत्या संयमेनापि हीनः सम्यक्त्ववान्नरः।
सुदैवं याति कर्माणि शीर्णयत्येव सर्वदा।। १०.

अन्वयार्थ :

विरत्या	व्रत से (और)
संयमेन	संयम से
अपि	भी
हीनः	हीन
सुदैवम्	सौभाग्य को अथवा अच्छी देव पर्याय को
सम्यक्त्ववान्	सम्यग्दृष्टि
नरः	मनुष्य
याति	प्राप्त करता है और
सर्वदा	सर्वदा
एव	ही
कर्माणि	कर्मों का
शीर्णयति	नाश करता है।

अर्थः व्रत और संयम से हीन सम्यग्दृष्टि जीव भी निरन्तर पुण्यकर्मों का आश्रव और पाप कर्मों का विनाश करता है।

भावार्थ : पाँच पापों से विरक्त होना, व्रत है तथा पंचेन्द्रिय व मन को वश करना और षट्कायिक जीवों की विराधना नहीं करना, सो संयम है। यदि सम्यग्दृष्टि जीव इन से रहित हो (अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान वर्ती जीव नियमतः व्रत संयम से हीन होता है) तो भी वह सुदैव को प्राप्त करता है।

यहाँ दैव शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। दैव का अर्थ भाग्य करने पर सम्यग्दृष्टि सौभाग्यशाली होता है, ऐसा अर्थ होगा। इससे मनुष्य तीर्थंकर - चक्रवर्ती-बलभद्र-कामदेव आदि महापुरुष होगा-ऐसा अर्थ ध्वनित होता है।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार-

ओजस्तेजो विद्या वीर्ययशो वृध्दि विजय विभवसनाथाः।
महाकुला महार्था, मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ३६)

अर्थ : सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव यदि मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं तो ओज, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृध्दि, विजय और वैभव से संयुक्त महान् कुलों में उत्पन्न होनेवाले,

महान पुरुषार्थी, मनुष्य - शिरोमणि होते हैं।

दैव शब्द का अर्थ देव पर्याय करनेपर सुदैव का अर्थ अच्छी देवपर्याय अर्थात् विमानवासी देवपर्याय, यह अर्थ ध्वनित होता है।

उमास्वामी महाराज लिखते हैं कि – **सम्यक्त्वं च।** (तत्त्वार्थसूत्र ६/२१)

टीकाकार आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है कि –

" **अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः पृथक्करणात् । सम्यक्त्वं दैवस्यायुष आश्रव इत्यभिधानेऽपि सौधर्मादि विशेषगतिर्भवति। कुतः? पृथक्करणात् ।**

(राजवार्तिक ६/२१/१)

अर्थः विशेष कथन न होने पर भी पृथक् सूत्र होने से सौधर्मादि विशेष गति जाननी चाहिए। सम्यक्त्व देवायु के आस्रव का कारण है। ऐसा सामान्य कथन होने पर भी सम्यग्दर्शन सौधर्मादि कल्पवासी देव सम्बन्धी आयु के आश्रव का कारण है, यह समझना चाहिए क्योंकि पृथक् सूत्र से यह ज्ञात होता है।

चतुर्थ गुणस्थान में भी अनन्त संसार की कारणभूत कर्म प्रकृतियों का आश्रव नहीं होता।

सम्यग्दर्शन के होने पर ४१ कर्म प्रकृतियों का बंध छूट जाता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में विच्छिन्न होने वाली १६ प्रकृतियाँ-मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रय तीन, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नरकगति नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु।

इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान में बन्धव्युच्छित्ति होने वाली २५ प्रकृतियाँ हैं- अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृध्दि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, स्वाति संस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचायु उद्योत।

एकबार सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुका जीव अर्धपुद्गल परावर्तन से अधिक काल संसार में नहीं भटकता, यह सम्यग्दर्शन का महत्त्व है।

सम्यग्दृष्टि कहाँ उत्पन्न नहीं होता?

अब्धायुष्क पक्षे तु नोत्पत्तिः सप्तभूमिषु।
मिथ्योपपाद त्रितये सर्वस्त्रीषु च नान्यथा।। ११.

अन्वयार्थ :

अबध्दायुष्क	अबध्दायुष्क सम्यग्दर्शन की
पक्षे	स्थिति में
तु	नियम से
सप्त-भूमिषु	सप्त-नरकों में
त्रितये	तीन प्रकार के
मिथ्योपपाद	मिथ्या उपपाद जन्म में
च	और
सर्व स्त्रीषु	सम्पूर्ण स्त्रियों में
उत्पत्ति	उत्पत्ति
न	नहीं होती।
अन्यथा	अन्य के लिए (यह नियम)
न	नहीं है।

अर्थ : अबध्दायुष्क सम्यग्दृष्टि सप्तनरक, समस्त प्रकार की स्त्रियाँ, इन पर्यायों में जन्म नहीं लेता। यह नियम बध्दायुष्क अवस्था में नहीं है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने से पूर्व जिसने किसी आयु का बंध कर लिया है, उसे बध्दायुष्क कहते हैं। इससे विपरीत लक्षणवाला अर्थात् जिसने सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने से पूर्व पर भव सम्बन्धि आयु नहीं बांधी है, वह जीव अबध्दा युष्क है। यहाँ अबध्दा युष्क-सम्यग्दृष्टि की चर्चा इष्ट है।

अबध्दायुष्क जीव नरकगति में भवन-व्यन्तर ज्योतिष्क इन तीन मिथ्या उपपादों में, स्त्रियों में और च शब्द से तिर्यंच गति में, नपुंसक अवस्था में तथा दुरवस्था में जन्म नहीं लेता।

शंका : श्लोक में अबध्दायुष्क विशेषण का प्रयोग क्यों किया है?

समाधान : बध्दायुष्कों में यह नियम नहीं है, यह बताने के लिए अबध्दायुष्क यह विशेषण दिया है।

यदि नरकायु का बन्ध सम्यग्दर्शन होने से पूर्व किसी जीव ने किया हो तो वह प्रथम नरक में जाता है। जैसे-राजा श्रेणिक।

शंका : क्या सम्यक्त्व के प्रभाव से आयुबन्ध का विनाश नहीं हो सकता?

समाधान : नहीं। आयुबन्ध होने बाद वह नहीं छूटता - ऐसा उसका स्वभाव ही है। आ. वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि - **जिस्से गईए आउअं बध्दं तत्थेव णिच्छएण उपज्जत्ति त्ति**। (धवला १०/२३९) जिस गति की आयु बन्ध चुकी है, जीव निश्चय से वहीं उत्पन्न होता है ।

किसी जीव ने नर या तिर्यंच आयु का पूर्व में बन्ध कर लिया हो, तो वह मरकर भोगभूमि में ही जन्म लेगा। यह सम्यग्दर्शन का अपूर्व लाभ है।

सम्यग्दर्शन के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए आ. समन्तभद्र ने लिखा है कि –

सम्यग्दर्शन शुध्दा, नारक तियङ्‌ नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुल विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका :।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ३५)

अर्थ : जो व्रती नहीं हैं और सम्यक् दर्शन करके शुध्द हैं (सहित हैं) वे नरक गति को, तिर्यञ्चगति को, नपुंसक पने को, स्त्री पने को, दुष्कुल को, रोग को, अल्पायु को और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते हैं और न इनका बन्ध करते हैं।

अतः प्रत्येक भव्य जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

व्रत धारण करने का फल

महाव्रताणुव्रतयोरुपलब्धि निरीक्ष्यते।
स्वर्गेऽन्यत्र न संभाव्यो व्रत लेशोऽपि धीधनैः।। १२.

अन्वयार्थ :

महाव्रत	महाव्रत (और)
अणुव्रतयो :	अणुव्रत के द्वारा
स्वर्गे	स्वर्ग में
उपलब्धि	उत्पत्ति
निरीक्ष्यते	देखी जाती है
अन्यत्र	अन्यत्र
न	नहीं देखी जाती (अतः)
धी-धनै :	बुध्दिमानों को
लेश :	लेश मात्र तो
अपि	भी
व्रत	व्रत
संभाव्यः	ग्रहण करना चाहिए।

अर्थ : महाव्रती या अणुव्रती जीव स्वर्ग में ही जाते हैं, अन्यत्र नहीं। अत एव बुध्दिमानों को व्रतसम्पन्न होना चाहिये।

भावार्थ : महाव्रत की परिभाषा करते हुए आ. समन्तभद्र लिखते हैं कि –

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचः कायै :।
कृतकारितानुमोदैः त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ७२)

अर्थ : पंच पापों का मन-वचन काय व कृत कारित अनुमोदना से पूर्ण तया त्याग कर देना यह महा पुरुषों द्वारा आचरित महाव्रत होता है।

जो महाव्रत का पालन करते हैं, उन्हें महाव्रती कहते हैं।

आत्मशक्ति के अनुदय के कारण महाव्रतों का पालन करना, जिनके लिए अशक्य होता है, उन लोगों के द्वारा एकदेश व्रतों का पालन किया जाता है, वे व्रती अणुव्रती कहलाते हैं।

ग्रंथकार का सु-स्पष्ट कथन है कि अणुव्रती अथवा महाव्रती अवश्यमेव स्वर्ग में जाते हैं–अन्य गतियों में नहीं।

आचार्य उमास्वामी महाराज ने देवगति के आश्रवों के हेतुओं का वर्णन करते हुए

लिखा है कि -

सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा बालतपांसि दैवस्य। (तत्त्वार्थसूत्र ६/२०) सराग संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तप देव आयु के आश्रव के कारण हैं।

सराग संयम की परिभाषा करते हुए आचार्य श्रुतसागर लिखते हैं कि **संसार कारण निषेधं प्रत्युद्यतः अक्षीणाशयश्च सराग इत्युच्यते, प्राणीन्द्रियेषु अशुभप्रवृत्तेः विरमणं संयमः पूर्वोक्तस्य सरागस्य संयमः सरागसंयमः महाव्रतमित्यर्थ ः।**

(तत्त्वार्थवृत्ति ६/२०)

अर्थ : जो संसार के कारणों के त्याग के प्रति उत्सुक हैं परन्तु जिसके मन से राग के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं, वह सराग कहलाता है। प्राणियों और इन्द्रियों में अशुभ प्रवृत्ति के त्याग को संयम कहते हैं। पूर्वोक्त सराग का संयम सराग-संयम है, वा जिसके पूर्वोक्त रागयुक्त संयम है, वह सराग संयम है अर्थात महाव्रत है।

संयम और असंयम रूप भाव संयमासंयम है। आचार्य भास्करनन्दि कहते हैं कि **संयमासंयमो देशसंयमः श्रावकधर्मः** संयमासंयम का अर्थ देश संयम या श्रावक धर्म है।

इनको नियम से देवायु बन्धती है।

आचार्य देव ने श्लोक में "धीधनैः" विशेषण दिया है। इसका अर्थ है कि बुध्दि ही जिनका धन हैं, वे व्रत ग्रहण करते हैं अथवा उन्हें व्रत ग्रहण करना चाहिये-ऐसा उपदेश है।

व्रतों को धारण करने से -

१. प्राणी संयम व इन्द्रिय संयम पलता है।

२. कषायें कम होती हैं।

३. संकल्प शक्ति का विकास होता है।

४. कर्मबन्ध की न्यूनता व निर्जरा की अधिकता होती है।

५. आत्मानुभूति का मार्ग प्रशस्त होता है।

६. परिणामों में अत्यन्त विशुध्दि होती है।

अतएव प्रत्येक आत्मकल्याणेच्छु भव्य को स्व-शक्ति प्रमाण व्रत अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

अजरामर पद का पात्र कौन?

संवेगादि परः शान्तस्तत्त्वनिश्चयवान्नरः।
जन्तुर्जन्मजरातीतं पदवीमवगाहते।। १३.

अन्वयार्थः

संवेगादि	संवेगादि में
परः	रत है
शान्तः	शान्त है
तत्त्व-निश्चयवान्	तत्त्वज्ञाता है (ऐसा)
नरः	मनुष्य
जन्तु	प्राणी
जन्म	जन्म
जरा	जरा से
अतीतम्	अतीत
पदवीम्	पदवी को
अवगाहते	प्राप्त करता है।

अर्थ : जो संवेगादि भावों में रत है, शान्त है, तत्त्व निश्चयी है, ऐसा मनुष्य प्राणी जन्म-जरा आदि से रहित पदवी को प्राप्त करता है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि में पाये जानेवाले तीन प्रमुख गुणों का विवेचन इस श्लोक में करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि इन गुणों से संपन्न जीव मोक्ष प्राप्त करता है।

संवेगादि परः सम्यग्दष्टि में मुख्यता से संवेगादि ८ गुण पाये जाते हैं।

पं. मेधावी ने उन गुणों का नाम बताते हुए लिखा है कि –

गुणास्तस्याष्ट संवेगो निर्वेदो निन्दनं तथा।
गर्होपशमभक्ती स वात्सल्यमनुकम्पनम् ।।

(धर्मसंग्रह श्रावकाचार ५/७९)

अर्थ : संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये गुण सम्यग्दृष्टि जीव में पाये जाते हैं।

संवेग : इस गुण का लक्षण करते हुए पंचाध्यायीकार ने लिखा है कि –

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ।।

(पंचाध्यायी उत्तरार्ध ४३१)

अर्थ : आत्मा को धर्म और धर्म के फल में पूर्ण उत्साह होना, संवेग कहलाता है अथवा समान धर्मियों में अनुराग करना अथवा पाँचों परमेष्ठियों में प्रेम करना भी, संवेग कहलाता है।

संसार के दुःखों से भयभीत रहना, संवेग है।

निर्वेद : संवेग और निर्वेद में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। संवेग विधिमुखेन कथन है तो निर्वेद निषेधमुखी है। अतः संसार सम्बन्धित अभिलाषाओं का न होना ही, निर्वेद है।

निन्दा : आ. जयसेन ने लिखा है कि – **आत्मसाक्षि दोषप्रकटनं निन्दा।**

(समयसार-तात्पर्यवृत्ति - ३०६/) आत्मसाक्षी में स्वदोषों का प्रकट करना निन्दा है।

गर्हा : आ. जयसेन का कथन है कि **गुरु साक्षि दोषप्रकटनं गर्हा** (समयसार ३०६) गुरु की साक्षी में अपने दोषों को प्रकट करना गर्हा है।

उपशम : आ. पूज्यपाद लिखते हैं कि – **आत्मनि कर्मणः स्व-शक्तेः कारणवशादनुभूतिरुपशमः** (सर्वार्थसिध्दि २/१) आत्मा में कर्म की शक्ति का कारणवशात् उदय में न आना, उपशम है।

भक्ति : आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि **भावविशुध्दियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।** (सर्वार्थसिध्दि ६/२४) भावों की विशुध्दता से युक्त, गुणों में जो अनुराग होता है, वह भक्ति है।

वात्सल्य : चामुण्डाराय ने लिखा है कि **सद्यः प्रसूता यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघेऽकृत्रिम स्नेहकरणं वात्सल्यम्** (चारित्रसार)

जैसे सद्यप्रसूता गाय वत्स से प्रेम करती है, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्य में तथा संघ में अकृत्रिम स्नेह करना, वात्सल्य है।

अनुकम्पा : आ. अकलंक देव लिखते हैं कि – **सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा।** (राजवार्तिक १/२/३०) सर्व प्राणियों में मैत्री अनुकम्पा है।

इन आठ गुणों से जो संयुक्त है। यह बताने के लिए श्लोक में "संवेगादि परः" विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

शान्त : शान्त शब्द अनेकार्थक है। इसके निम्नांकित अर्थ है । –

प्रसन्न किया हुआ, दमन किया हुआ, पवित्र, आवेश रहित, समाप्त किया हुआ आदि।

१. जो आत्मस्वभाव में प्रसन्न है, वह शान्त है।

२. जिसने इन्द्रियों का दमन किया है, वह शान्त है।

३. जो तपादि गुणों से पवित्र है, वह शान्त है।

४. जो कषायों के आवेश से रहित है, वह शान्त है।

५. जिसने मोहनीय (दर्शन) को समाप्त किया है, वह शान्त है।

तत्त्वनिश्चयवान् : श्लोकान्तर्गत प्रयुक्त तृतीय विशेषण यह बताता है कि अजरामर पदाभिलाषी को तत्त्वों का ज्ञाता होना आवश्यक है।

तत्त्व शब्द का अर्थ करते हुए अकलंक देव लिखते हैं कि –

योऽर्थो यथा अवस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः (राजवातिक १/२/५)

तत्त्व शब्द का स्पष्ट अर्थ है - जो पदार्थ जिस रूप से है, उसका उसी रूप से होना।

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इसमें से जीव ज्ञायक एवं सातों ही तत्त्व ज्ञेय हैं। जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व उपादेय व शेष हेय हैं। इत्यादि रूप से तत्त्व का ज्ञान आवश्यक है।

इन तीन विशेषणों से संयुक्त जीव जन्म जरा और मरण से रहित मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

बारह व्रतों का निर्देश

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकार गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारित्येवं द्वादशधा व्रतम् ।। १४.

अन्वयार्थ :

पञ्च	पाँच
एव	ही
अणुव्रतानि	अणुव्रत
त्रिप्रकारम्	तीन प्रकार के
गुणव्रतम्	गुणव्रत
एवम्	और
चत्वारि	चार प्रकार के
शिक्षाव्रतानि	शिक्षाव्रत
इति	इस प्रकार
व्रतम्	व्रत
द्वादशधा	बारह प्रकार के हैं।

अर्थ : पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार व्रत बारह प्रकार के होते हैं।

भावार्थ : आ. पद्मनन्दि भी इस काव्य को यथावत् स्वीकार करते हैं।

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते।।

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका ६/२४)

अर्थ : गृहिव्रत अर्थात् देशव्रत में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार ये बारह व्रत होते हैं।

मूल श्लोक व पद्मनन्दि पंचविंशति का के श्लोक में द्वितीय पंक्ति में कुछ पाठान्तर अवश्य है - परन्तु वह अर्थान्तरकारी नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि -

गृहीणां त्रेधा तिष्ठत्यगुण शिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं, त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ५१)

अर्थ : गृहस्थों का चारित्र तीन प्रकार का होता है। अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत ये तीनों क्रम से पाँच, तीन और चार प्रकार के हैं

अणुव्रत : पाँच पापों का एक देश त्याग अर्थात् स्थूल त्याग करना सो अणुव्रत है, इनकी संख्या पाँच हैं।

गुणव्रत : जो अणुव्रतों का अर्थात् आत्मगुणों का विकास करें, वे गुणव्रत हैं। गुणव्रतों की संख्या तीन हैं।

शिक्षाव्रत : जो मुनि पद की शिक्षा दे, उन व्रतों को शिक्षाव्रत कहते हैं। शिक्षा व्रत चार होते हैं।ये द्वादश व्रत श्रावक धर्म के भूषण हैं।

ग्रंथकार इनका वर्णन स्वयं आगे करेंगे।

अणुव्रतों का स्वरूप

हिंसातोऽसत्यतश्चौर्यात् परनार्याः परिग्रहात् ।
विमतेर्विरतिः पञ्चाणुव्रतानि गृहेशिनाम् ।। १५.

अन्वयार्थ :

हिंसातः	हिंसा से
असत्यतः	असत्य से
चौर्यात्	चोरी से
परनार्या :	परनारी से
परिग्रहात्	परिग्रह से
विमते :	पापवृत्ति से
विरति :	विरक्ति (यह)
गृहेशिनाम्	गृहस्थों के
पञ्च	पाँच
अणुव्रतानि	अणुव्रत
भवन्ति	होते हैं।

अर्थ : हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पापवृत्ति से विरक्त होना, ये गृहस्थों के पाँच अणुव्रत हैं।

भावार्थ : जीव, परमशुध्द द्रव्य है। पुद्गल के संसर्ग में आसक्त होकर उसने अपने स्व स्वरूप को भूला दिया है। विभ्रमित होकर वह अनादिकाल से संसार में संसरण कर रहा है। आत्मशुध्दि के लिए धर्म ही एक सहायक मित्र है। धर्म मार्ग पर गमन करने का इच्छुक भव्य सर्व प्रथम श्रावक धर्म अंगीकार करता है। श्रावक धर्म अणुव्रतों को ग्रहण किये विना प्रकट नहीं होता।

अणुव्रत का लक्षण करते हुए भास्करनन्दि आचार्य लिखते हैं कि **हिंसादिभ्यो देशेन विरतिरणुव्रतम्** (तत्त्वार्थवृत्ति ७/२) हिंसादि पंच पापों से एकदेश विरत होना, अणुव्रत है।

अणुव्रत पाँच होते हैं।

अहिंसाणुव्रत – पं. आशाधर जी ने लिखा है कि –

शान्ताद्यष्टकषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान् ।
अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्युणुव्रतम् ।।

(सागर-धर्मामृत ४/७)

अर्थ : शान्त हो गये हैं – आदि के आठ कषाय जिसके ऐसे, दया के द्वारा कोमल है हृदय जिसका ऐसे तथा मन, वचन, काय और कृत, करित, अनुमोदना इन नौ संकल्पों से दो इन्द्रिय आदिक जीवों की हिंसा नहीं करने वाले व्यक्ति के अहिंसा नामक अणुव्रत होता है।

आरंभी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी, इस तरह हिंसा के चार भेद हैं। गृहस्थ

संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, यही उसका अणुव्रत है ।

सत्याणुव्रत : आ समन्तभद्र लिखते हैं कि -

स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ।
यत्तद्वदन्ति सन्त : स्थूलमृषावाद वैरमणम् ।। (रत्नकरण्ड-श्रावकाचार ५५)

अर्थ : जो लोकविरुध्द, राज्यविरुध्द एवं धर्मविघातक ऐसी स्थूल झूठ न तो स्वयं बोलता है और न दूसरो बुलवाता है, तथा दूसरे की विपत्ति के लिए कारण भूत सत्य को भी न स्वयं कहता है और न दूसरों से कहलवाता है, उसे सन्तजन स्थूल मृषावाद से विरमण अर्थात सत्याणुव्रत कहते हैं ।

भय-आशा-क्रोध-हास्य आदि कारणों से झूठ न बोलना - तथा समय आने पर प्राणी रक्षा के योग्य वचन बोलना द्वितीय अणुव्रत है ।

आचौर्याणुव्रत : आचार्य कार्तिकेय लिखते हैं कि -

जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पयमुल्लेण णिण्हेदि ।
वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोवे वि तूसेदि ।।
जो परदव्वं ण हरदि माया लोहेण कोहमाणेण ।
दिढचित्तो सुध्दमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ ।। (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा - ३३५-३३६)

अर्थ : जो बहुत मूल्यवाली वस्तु को अल्पमूल्य से नहीं लेता है, दूसरों की भूली हुई भी वस्तु को नहीं ग्रहण करता है, जो अल्पलाभ में भी सन्तोष धारण करता है, जो पराये द्रव्य को माया से, लोभ से, क्रोध से और मान से अपहरण नहीं करता है, जो धर्म में दृढचित्त है और शुध्द बुध्दि का धारक है, वह अचौर्याणुव्रत धारी श्रावण है ।

जल और माटी के अलावा कोई भी स्थूल या सूक्ष्म वस्तु विना स्वामी के दिये ग्रहण न करना, अचौर्याणुव्रत है ।

ब्रह्मचर्याणुव्रत : आ. पूज्यपाद लिखते हैं कि -

परेषां योषितो दृष्ट्वा, निजमातृ सुतासमा :।
कृत्वा स्वदार सन्तोषं, चतुर्थ तदणुव्रतम् ।। (पूज्यपाद श्रावकाचार - २४)

अर्थ : दूसरों की स्त्रियों को अपनी माता, बहिन और पुत्री के समान देखकर अपनी स्त्री में संतोष करना, यह चतुर्थ अणुव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) है ।

परस्त्री के साथ भोगाभिलाषा का पूर्णतः त्याग करना तथा स्व-स्त्री में सदैव सन्तोषपूर्वक रहना, ब्रह्मचर्याणुव्रत है ।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत -

आ.उमास्वामी का निर्देश है कि -

धनाधान्यदिकं ग्रन्थं, परिमाय ततो धिके ।
यत्त्रिधा निःस्पृहत्वं तत्स्यादपरिग्रहव्रतम् ।। (उमास्वामी श्रावकाचार ३८२)

अर्थ : धन धान्यादिक परिग्रह का परिणाम करके उससे अधिक में मन, वचन काय से निःस्पृहता रखना, सो अपरिग्रह व्रत है ।

मिथ्यात्व नामक अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना, बाह्य दश को मर्यादित करना, वह परिग्रह परिमाण अणुव्रत है ।

सप्त शीलव्रतों का स्वरूप

गुणव्रतानामाद्यं स्याद्दिग्व्रतं तद् द्वितीयकम् ।
अनर्थदण्डविरतिस्तृतीयः प्रणिगद्यते ।। १६.
भोगोपभोग संख्यानं शिक्षाव्रतमिदं भवेत् ।
सामायिकं प्रोषधोपवासोऽतिथिषु पूजनम् ।। १७.
मारणान्तिक सल्लेख इत्येवं तच्चतुष्टयम् ।
देहिनः स्वर्ग-मोक्षैक साधनं निश्चितक्रमम् ।। १८.

अन्वयार्थ :

तत्	उन
गुणव्रतानाम्	गुणव्रतों के
आद्यम्	प्रथम
दिग्व्रतम्	दिग्व्रत
स्यात्	है
द्वितीयकम्	दूसरा
अनर्थदण्डविरति	अनर्थदण्डव्रत
तृतीयः	तीसरा
भोगोपभोग संख्यानम्	भोगोपभोग परिमाण
प्रणिगद्यते	कहा है
सामायिकम्	सामायिक
प्रोषधोपवासः	प्रोषधोपवास
अतिथिषु पूजनम्	अतिथि-पूजन
मारणान्तिक	मरण काल में
सल्लेख	सल्लेखना
इति-एव	इस प्रकार
इदम्	यह
चतुष्टय	चार प्रकार का
शिक्षाव्रतम्	शिक्षाव्रत
भवेत्	होता है
तत्	वे
देहिनः	शरीर-धारियों के लिए
स्वर्ग	स्वर्ग (और)
मोक्ष	मोक्ष के
निश्चित क्रमम्	निश्चित् क्रमवाला
साधनम्	साधन है।

(ज्ञातव्य है कि – श्रावकाचार संग्रह में तृतीयः की जगह तृतीयं लिखा हुआ है।)

अर्थ : दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाण व्रत ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग तथा सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं।

वे व्रत संसारी जीवों के लिए स्वर्ग और मोक्ष के एकमात्र साधन हैं।

भावार्थ : तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रतों को शीलव्रत कहा जाता है। व्रतशुध्दि हेतु शीलव्रतों का परिपालन करना, अत्यन्त अनिवार्य है।

आ. अमृतचन्द्र का भी यही मन्तव्य है। यथा

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रत पालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि।।

(पुरुषार्थ सिध्द्युपाय - १३६)

अर्थ : जिस प्रकार नगरों की रक्षा परकोट करते हैं, उसी प्रकार निश्चय से व्रतों की रक्षा शील करते हैं। इसलिए व्रत परिपालनार्थ शीलों का पालन करना चाहिए।

दिग्व्रत के परिपालन से भव्य बहुत आरंभ से बच जाता है। अनर्थदण्ड उसे अप्रयोजनभूत कार्यों से बचाता है। भोगोपभोग परिमाण व्रत आसक्ति से बचाता है, जिससे व्रती चौर्यादि पाप कर्मों में व परिग्रह के संचय में प्रवृत्त नहीं होता।

सामायिक मन को पवित्र बनाता है। प्रोषधोपवास के द्वारा इन्द्रियाँ व मन वश में हो जाते हैं। अतिथि-संविभाग लोभ को घटाता है तथा सल्लेखना कषायों को कृश करती है। इस तरह शिक्षाव्रतों का परिपालन मनोशुध्दि व व्रतशुध्दि का प्रमुख हेतु है।

पहले तीन गुणव्रतों का स्वरूप बताया जाता है।

दिग्व्रत : पं. दौलतराम जी ने लिखा है कि –

पूरब आदि दिशा चउ जानो, ईशानादि विदिशि चऊ मानों।
अध ऊरध मिलि दस दिशि होई, करै प्रमाण व्रती है सोई ।।
शीलवान् व्रत धारक भाई, जाके दरशनतै अघ जाई।
या दिशिकों एतो ही जाऊँ आगे कबहुं न पाँव धराऊँ ।।
या विधि सौं जु दिशा को नेमा, करै सुबुध्दि धरि व्रत सौ प्रेमा।
मरजादा न उलंघे जोई, दिग्व्रत धारक कहिये सोई।

(क्रियाकोष)

दिशाएं दस होती हैं। पूर्व-पश्चिम-दक्षिण-उत्तर अग्नेय-नैऋत्य-वायव्य-ऐशान्य - ऊर्ध्व और अधो। इन दश दिशाओं में गमन और आगमन का प्रमाण करना, सो दिग्व्रत है।

२. अनर्थदण्ड व्रत : नञ् तत्पुरुष समास में नकार के आगे स्वर आने पर नकार का अन् हो जाता है। न – अर्थः अनर्थ

अर्थ शब्द अनेकार्थ वाची है। यथा-आशय, प्रयोजन, लक्ष्य, उद्देश, अभिलाषा आदि।

अनेक अर्थ, अर्थ शब्द के हैं- जिसमें से प्रयोजन यह अर्थ यहाँ गृहीत है।

जिन कार्यों को करने का कोई अर्थ या प्रयोजन नहीं होता, वे कार्य अनर्थ हैं। उनसे विरक्त होना अनर्थदण्ड व्रत है। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि –

असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः। ततो विरतिरनर्थदण्डविरतिः।

(सर्वार्थसिद्धि ७/२१)

अर्थात् : उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है, वह अनर्थ दण्ड है। इससे विरत होना अनर्थदण्ड विरतिव्रत है।

इसके पाँच भेद हैं – यथा

पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुती पञ्च।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ७५)

अर्थ : पापों के नहीं धारण करने वाले निष्पाप आचार्यों ने अनर्थदण्ड के ५ भेद कहे हैं। पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या।

(अ.) पापोपदेश विरति : "पापस्य उपदेशः पापोपदेशः" (पाप का उपदेश, पापोपदेश है) इस तरह यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास का प्रयोग है। आचार्य प्रभाचन्द्र के अनुसार **पापोपार्जन हेतुरुपदेशः पापोपदेशः** , पाप के उपार्जन हेतु जो उपदेश दिया जाता है, वह पापोपदेश है। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका - ७६)

जिन कार्यों को करने से पापों का उपार्जन होता हो, यथा-अमुक देश में प्राणी सस्ते में मिल जायेंगे, वहाँ से उन्हें खरीदकर अमुक देश में बेचो तो तुम्हें लाभ होगा इस तरह के उपदेश को पापोपदेश कहते हैं। आ. समन्तभद्र ने लिखा है कि –

तिर्यक्क्लेशवणिज्या हिंसारम्भ प्रलम्भनादीनाम् ।
कथाप्रसंग प्रसवः स्मर्तव्य पाप उपदेशः॥

अर्थ : तिर्यंचों को क्लेश पहुँचाने का, उन्हें बंध करने आदि का उपदेश देना, तिर्यंचों के व्यापार करने का उपदेश देना, हिंसा, आरम्भ और दूसरों को छल कपट आदि से ठगने की कथाओं का प्रसंग उठाना ऐसी कथाओं का बार-बार कहना, यह पापोपदेश अनर्थदण्ड है। पाप के कारणभूत उपदेश को न देना पापोपदेश-विरति है।

(ब.) हिंसादान विरति : हिंसा की वस्तुयें देना, हिंसादान है। आ. समन्तभद्र के अनुसार–

परशुकृपाण खनित्र ज्वलनायुधशृङ्गि शृंखलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ७७)

अर्थ : हिंसा के कारणभूत फरसा, तलवार, कुदाली, आग, अस्त्र-शस्त्र, विष और साकल आदि के देन को ज्ञानी जन हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं।

अत : हिंसोपकरण नहीं देना चाहिये, यही हिंसादान विरति है।

(क.) अपध्यान विरति : अप यानि कुत्सित-खोटा, ध्यान यानि चिन्तन। किसी की हार हो जाये, किसी की धनहानि हो जाये-ऐसा चिन्तन अपध्यान है।

आ. समन्तभद्र ने कहा है कि –

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार-७८)

अर्थ : द्वेष से किसी प्राणी के वध, बन्ध और छेदनादि का चिन्तन करना तथा राग से परस्त्री आदि का चिन्तन करना, इसे जिनशासन में अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड कहा है।।

अपध्यान से विरक्त होना, अपध्यान विरति है।

(ड) दुःश्रुति विरति : दुर् उपसर्ग कुत्सित अर्थ का प्रतिपादक है। श्रुति का अर्थ शास्त्र है। जो शास्त्र राग-द्वेष और मोह का वर्धन करते हैं। विषय-कषायों की इच्छा को बढ़ाते हैं, वे कुशास्त्र हैं, उनका पठन-पाठन दुःश्रुति है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि –

आरम्भ सङ्ग साहस मिथ्यात्व द्वेष रागमदमदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति।।

(रत्नकरण्ड-श्रावकाचार ७९)

अर्थ : आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और काम भाव के प्रतिपादन द्वारा चित्त को कलुषित करनेवाले शास्त्रों का सुनना दुःश्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

कुशास्त्रों का पठन-पाठन का त्याग करना, दुःश्रुति विरति है।

(इ) प्रमादचर्या विरति : प्रमादस्य चर्या (प्रमाद पूर्वक चर्या करना, प्रमादचर्या है)

प्रमाद को परिभाषित करते हुए भास्करनन्दि आचार्य लिखते हैं कि- **प्रमादः कुशलकर्मस्वनादर उच्यते** (तत्त्वार्थवृत्ति ८/१) कुशल कर्मों में अनादर कि प्रमाद कहते हैं। उस प्रमाद से युक्त चर्या को, प्रमादचर्या कहते हैं।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि –

क्षितिसलिलदहन पवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् ।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार ८०)

अर्थ : प्रयोजन के विना भूमि को खोदना, पानी का ढोलना, अग्नि का जलाना, पवन का चलाना और वनस्पति का छेदन करना तथा निष्प्रयोजन स्वयं घूमना और दूसरों को घुमाना इत्यादि प्रमाद युक्त निष्फल कार्यों के करने को ज्ञानीजन प्रमादचर्या

नामक अनर्थदण्ड कहते हैं।

प्रमादयुक्त चर्या का त्याग, प्रमादचर्या विरति है।

३. भोगोपभोग परिसंख्यान : भोग उपभोग की परिभाषा करते हुए आ. समन्तभद्र ने लिखा है कि **भुक्त्वा परिहातव्यो भोग : ।** (रत्नकरण्ड श्रावकाचार ८३) जो वस्तुएं भोग कर छोड़ दी जाती हैं, वे भोग हैं। तथा **भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः उपभोगः।** (रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ८३) भोग कर पुनः भोगना, उपभोग है।

परिसंख्यान का अर्थ परिमाण करना यानि मर्यादा करना है। अर्थात् भोग की वस्तुओं तथा उपभोग की वस्तुओं के प्रति अपना ममत्व हटाने के लिए, उनकी मर्यादा करना, उसका नाम भोगोपभोग परिसंख्यान व्रत है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि –

भोगोपभोग मूला, विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ।।

(पुरुषार्थ सिध्द्युपाय - १६१)

अर्थ : कुछ अंशों में विरत कुछ अंशों में अविरत अर्थात् देशव्रती पंचमगुणस्थानवर्ती पुरुष के भोग और उपभोगों के कारण से होने वाली हिंसा होती है और किसी निमित्त से नहीं होती, वस्तुस्वरूप को जान करके अपनी शक्ति के अनुसार वे दोनों, भोग उपभोग भी छोड़ देने चाहिए।

कुछ ग्रंथों में गुणव्रतों में दिग्व्रत - देशव्रत और अनर्थदण्ड व्रत ग्रहण किये गये हैं। यथा – दिग्देनार्थदण्ड विरति..... (तत्त्वार्थसूत्र ७/२१)

दिग्व्रत में गृहीत मर्यादा को घण्टा-घड़ी-वर्ष-पक्ष-मासादि के लिए घटाना देशव्रत है।

अब शिक्षाव्रतों का स्वरूप बताया जाता है।

१. सामायिक : आचार्य अकलंक देव ने लिखा है कि –

एकत्वेन गमनं समयः। समेकीभावे वर्त्तते तद्यथा "संगतं घृतं संगतं तैलम्" इत्युक्ते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन गमनं समयः। प्रतिनियत काय वाङ्मनस्कर्म पर्यायार्थं प्रतिनिवृतत्वादात्मनो द्रव्यार्थेनैकत्वगमनमित्यर्थः। समय एव सामयिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा सामयिकम् ।" (राजवार्तिक - ७/२१/७)

अर्थ : एकत्वरूप से गमन (लीनता) का नाम समय है। "सम" शब्द एकीभाव अर्थ में है। जैसे "संगतघृत, संगततैल" ऐसा कहने पर तैल वा घृत एकमेव हुई वस्तु का ज्ञान होता है, अर्थात् इसमें "सम" शब्द एकीभाव अर्थ में है। इसी प्रकार "एकत्व से गमन" एकमेक हो जाने का नाम समय है। अर्थात् काय, वचन और मन की क्रियाओं से निवृत्ति होकर आत्मा का द्रव्यार्थ में एकत्व रूप से लीन होना समय है। समय का भाव या समय का प्रयोजन ही सामायिक है, अर्थात्, मन, वचन, और काय की क्रियाओं का निरोध कर के अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना ही, सामायिक है।

सामायिक शब्द सम् + **आय** + इक शब्द से बना है। रागादि से वियुक्त होना सम है। आय यानि लाभ व इक यानि गमन।

रागादिक से विमुक्त होकर ज्ञानादिक गुणों के लाभ हेतु आत्म स्वरूप में गमन करना, सामायिक है। अथवा-समय शब्द का अर्थ जिनेन्द्रोपदेश है। उस समय में जो आवश्यक कर्म कहे हैं – उन आवश्यकों के प्रति इक यानि गमन (परिपालन) सामायिक है।

२. प्रोषधोपवास : प्रोषध शब्द आगम में दो अर्थों में प्रयुक्त है। आचार्य अकलंक देव के अनुसार प्रोषध शब्द पर्व पर्याय का वाचक है। यथा **प्रोषध शब्दः पर्वपर्यायवाची। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः।** (राजवार्तिक ७/२१)

अर्थ : प्रोषध शब्द पर्व का पर्याय वाचक है, अतः पर्व के दिन उपवास करना, प्रोषधोपवास है।

आ. समन्तभद्र प्रोषध का एक बार भोजन ऐसा अर्थ करते हैं। यथा

प्रोषधः सकृद्-भुक्तिः (रत्नकरण्ड श्रावकाचार १०९) इस गाथा की टीका करते हुए प्रभाचन्द्राचार्य लिखते हैं कि **प्रोषधः पुनः सकृद् भुक्ति धारणकदिने एकभक्तविधानं यत्पुनरुपोष्य उपवासं कृत्वा पारणकदिने आरम्भं सकृद्भुक्तिमाचरत्यनुतिष्ठति स प्रोषधोपवासोऽभिधीयते इति।।**

अर्थ : धारणा व पारणा इन दोनों दिन एकबार भोजन करें व पर्व के दिन उपवास करें, सो प्रोषधोपवास है।

३. अतिथि पूजन : नञ् तत्पुरुष समास के अनुसार नकार के आगे व्यंजन आनेपर न-कार का अ-कार हो जाता है। न + तिथि = अतिथि। अतिथि शब्द का लक्षण बताते हुए आ. श्रुतसागर लिखते हैं कि

संयमविराधयन् अतति भोजनार्थं गच्छति यः सोऽतिथिः। अथवा न विद्यते तिथिः प्रतिपद् द्वितीया तृतीयादिका यस्य सोऽतिथिः। अनियतकाल भिक्षागमन इत्यर्थः। (तत्त्वार्थवृत्ति - ७/२१)

अर्थ : संयम की विराधना नहीं करते हुए भोजन के लिए भ्रमण करते हैं, उनको अतिथि कहते हैं। अथवा जिसके प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया आदि तिथियाँ नहीं है, उसे अतिथि कहते हैं। जिनके अनियत काल भिक्षागमन है अर्थात् भिक्षा का गमन काल निश्चित, नहीं है, उसे अतिथि कहते हैं। यहाँ पूजन शब्द दानार्थक है। "**अतिथीनां पूजनमतिथिपूजनम्** " इस षष्ठी तत्पुरुष समास के अनुसार अतिथिओं को दानादि देना, अतिथि पूजन है।

४. मारणान्तिक सल्लेखना : आचार्य भास्करनन्दि ने लिखा है कि –

आयुरिन्द्रियबल संक्षयो मरणम् । अन्तग्रहणं तद्भव मरण प्रतिपत्त्यर्थम् । मरणमेवान्तो मरणान्तः। मरणान्तः प्रयोजनमस्या मरणान्ते भवा वेति मारणान्तिकी।

सच्छब्दः प्रशस्तवाची। लिखेर्ण्यन्तस्य युचि प्रत्यये सति तनूकरणेऽर्थे लेखनेति सिध्यति। ततः कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखनेति समासार्थः कथ्यते (तत्त्वार्थवृत्ति ७/२२)

अर्थ : आयु, इन्द्रिय और बल का नाश हो जाना मरण है। उस भव का मरण होना मरणान्त है, मरणान्त है प्रयोजन जिसका अथवा मरणान्त में जो होवे, वह मरणान्तिकी कहलाती है। सत् शब्द प्रशंसावाची है, लिख् धातु कृश करने अर्थ में है। उसके आगे चुरादिगण में युच् प्रत्यय आनेपर लेखना शब्द बनता है। बाह्य में शरीर का और अभ्यन्तर में कषायों का और उनके कारणों का क्रम से कम करना, सम्यग्लेखना सल्लेखना कहलाती है।

मरण काल में सल्लेखना ग्रहण करना सो मारणान्तिक सल्लेखना है।

कई आचार्यों ने सल्लेखना को बारह व्रतों में नहीं लिया है। उन्होंने चार शिक्षाव्रतों में सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिणाम व अतिथि संविभाग को ग्रहण किया है।

प.पू. सिध्दान्त चक्रवर्ती, आचार्य १०८ श्री सन्मतिसागर जी महाराज के अनुसार १३ प्रकार का चारित्र मुनि महाराज का होता है। ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति। इसी प्रकार १३ व्रत गृहस्थ के भी होते हैं, कौनसे? ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षा व्रत और सल्लेखना। वास्तव में श्रावक के १२ व्रत ही होते हैं, फिर १३ वाँ व्रत क्यों जोड़ दिया गया? इसीलिए जोड दिया गया है कि सल्लेखना जीवन का एक शिखर है। जैसे मंदिर बनाकर शिखर बनाते हैं, वैसे ही व्रतादिको ग्रहण कर के मरणकाल में सल्लेखना धारण की जाती है। अतएव १३ व्रत कहे।

(सुविधि की ललकार - फरवरी १९९७ पृ. ६०)

अष्ट मूलगुण

मद्य-मांस-मधु त्याग संयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि।।१९.

अन्वयार्थ :

मद्य	मद्य
मांस	मांस
मधु-त्याग	मधु के त्याग
संयुक्त	सहित
अणुव्रतानि	अणुव्रत
नुः	अवश्य
अष्टौ	आठ
मूलगुणाः	मूलगुण हैं।
च	और
पञ्च	पाँच
उदम्बरैः	उदम्बर (त्याग)
आर्भकेषु	बालकों के लिए
अपि	भी (है)

अर्थ : तीन मकारों का त्याग व पाँच अणुव्रत ग्रहण ये आठ मूलगुण हैं। बालकों के लिए तीन मकार त्याग व पंचोदुम्बर फल त्याग ये आठ मूलगुण हैं।

भावार्थः मूल शब्द के प्रधान, जड़, प्रारंभ, आधार, स्त्रोत, पाठ, छोर आदि तथा गुण शब्द के भाव, आचरण, धर्म, स्वभाव, उपयोग, लाभ, प्रभाव आदि अर्थ हैं ।

यहाँ मूलगुण शब्द का अर्थ है-प्रधान आचरण। श्रावकों के लिए जो आचरण अवश्यंभावी हैं, वे मूलगुण हैं। यद्यपि उसकी ८ संख्या निर्धारित की गई हैं,। परन्तु वे तीन प्रकार से पाये जाते हैं। यथा

स्वामी समन्तभद्र का कथन है कि

मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ६६)

अर्थ : श्रमणोत्तमों ने गृहस्थों के आठ मूलगुण बताये हैं – मद्य-मांस-मधु त्याग तथा पंच अणुव्रतों का पालन।

ग्रंथकार शिवकोटि भी इस मान्यता का समर्थन करते हुए लिखते हैं **मद्य-मांस-मधु त्याग, संयुक्ताणुव्रतानि नुः अष्टौ मूलगुणाः।**

आ. पूज्यपाद कहते हैं कि –

मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बर पञ्चकैः।
गृहिणां प्राहुराचार्या अष्टौ मूलगुणानिति।।

(पूज्यपाद श्रावकाचार १४)

अर्थ : तीन मकार त्याग तथा पंच उदम्बर फल त्याग ये आठ मूलगुण हैं।

ग्रंथकार ने आर्भकेषु (बालकों के लिए) कहते हुए इस मत का उल्लेख किया है-

यथाः मद्य-मांस-मधुत्याग पञ्चोदुम्बरैः अष्टौ मूलगुणाः

पण्डित आशाधर का तृतीय पक्ष है। वे लिखते हैं कि –

मद्यपलमधु निशाशन पञ्चफली-विरति पञ्चकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ।।

(सागार धर्मामृत २/१८)

अर्थ : मद्य, मांस, मधु का त्याग, रात्रिभोजन त्याग, पंचोदुम्बर फल त्याग, पंच परमेष्ठी नमन, जीवदया पालन और जल गालन ये ८ मूलगुण हैं।

इस श्लोक में दो तरह के अष्ट मूलगुणों का वर्णन किया गया है। स्वयं ग्रंथकार "आर्भकेषु" शब्द का प्रयोग करते हुए प्राथमिक शिष्य के लिए मूलगुणों का कथन करते हैं - ३मकार त्याग व ५ उदम्बर फल त्याग।

मकार से मद्य-मांस-मधु का ग्रहण करना चाहिये।

उदम्बर फल पाँच हैं पीपल, उमर, पाकर, बड़, अंजीर। वृक्ष के काठ को फोड़कर उस के दूध से उत्पन्न होने वाले फलों को क्षीरीफल अथवा उदम्बर फल कहते हैं। उन फलों को विदारने पर प्रत्यक्ष में दृष्टिगत होनेवाले जीवों की अपेक्षा असंख्यात गुणित सूक्ष्म जीव उन में पाये जाते हैं। अतः जो उदम्बर फल खाता है, वह जीव दया का परिपालन नहीं कर सकता।

इसके अलावा इन को खाने में तीव्र लोलुपता होने से, भावहिंसा भी प्रचुर मात्रा में होती हैं। अतः इन का त्याग करना चाहिये। शेष गुणों का कथन स्वयं आचार्यदेव करेंगे।

कैसा जल पीने योग्य है?

वस्त्रपूतं जलं पेयमन्यथा पापकारणम् ।
स्नानेऽपि शोधनं वारि करणीयं दयापरैः।। २०

अन्वयार्थ :

दयापरैः	दया में तत्पर जीव को
वस्त्रपूतम्	वस्त्र से छानकर
जलम्	जल
पेयम्	पीना चाहिये
स्नाने	स्नान के लिए
अपि	भी
वारि	जल
शोधनम्	क्षालन
करणीयम्	करना चाहिये
अन्यथा	अन्यथा (वह)
पापकारणम्	पाप का कारण है।

ज्ञातव्य है कि श्रावकाचार संग्रह में वारि के स्थान पर वारः छपा हुआ है।

अर्थ : गृहस्थियों को जल छान कर पीना चाहिये, स्नानादिक कार्यों में भी छना हुआ जल प्रयोग करना चाहिये, अन्यथा वह पाप का कारण है।

भावार्थः पं.मेधावी ने लिखा है कि –

वस्त्रेणापि तिसुपीनेन, गालितं तत्पिबेज्जलम् ।
अहिंसाव्रत रक्षार्थं मांस दोषापनोदने ।।
अम्बुगालितशेषं तन्न क्षिपेत्क्वचिदन्यतः ।
तथा कूपजलं नद्या तज्जलं कूपवारिणि ।।
तदर्द्धप्रहरादूर्ध्वं पुनर्गालितमाचमेत् ।
शौचस्नानादि कुर्यान्न पयसा गालितं बिना।।

(धर्मसंग्रह श्रावकाचार ३/३४ से ३६)

अर्थ : अपने अहिंसाणुव्रत की रक्षा के लिए तथा मांस के दोष को नाश करने के अर्थ अत्यन्त गाढ़े वस्त्र से छाना हुआ जल पीना चाहिए।

जल छानने के बाद जो उस छन्ने में जल बाकी बचता है, उसे जमीन वगैरह पर न डालें, कुएँ का जल नदी में और नदी का जल कुएँ में न डालें।

तथा आधे प्रहर के बाद फिर जल छान कर पीवे और शौच तथा स्नानादि बिना छाने जल से न करें।"

जलगालन विधि : ऐसा मोटा कपड़ा कि जिससे सूर्य किरणें न दिखती हों, दुहरा कर के बर्तनपर रखें। कपड़ा इतना बड़ा हो जो कि बर्तन में पानी सुविधापूर्वक छाना जा सके।

शंका : किन्हीं तत्त्ववेत्ताओं के अनुसार ३६ इंच लम्बा कपड़ा होना चाहिये। क्या ऐसा नहीं है?

समाधान : मेरी नजर में कपड़े का प्रमाण देना समुचित नहीं है क्योंकि बर्तनों का आकार भिन्न-भिन्न है। हो सकता है कि किसी व्यक्ति को पीतल की टंकी में पानी छानना हो - वहाँ उसका मुख कितना है - यह विचारणीय है। यदि कोई मिट्टी के घड़े में पानी छानना चाहे तो इतने लम्बे कपड़े की क्या आवश्यकता? अतः मैं मानता हूँ कि पानी छानने का वस्त्र इतना बड़ा हो कि पानी सुविधा पूर्वक छाना जा सके।

पानी छानने के पश्चात् कपड़े को उल्टा कर के पुनः जिस बर्तन से पानी निकाला था उस पर रख देवें व छना हुआ पानी उस पर डाल दें, ताकि जीवानी उस पात्र में संकलित हो जायें। जीवानी को उसी जलाशय में विवेक पूर्वक डालनी चाहिये, जिससे पानी निकाला था।

ब्रह्मनेमिदत्त ने लिखा है कि

यस्माजल्ल समानीतं, गालयित्वा सुयत्नतः ।
तज्जीवसंयुतं तोयं, तत्रोच्चैर्मुच्यते बुधैः।

(धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार ४/१३)

अर्थ : जिस जलाशय से जल लाया गया है, उसे सुप्रयत्न से गाल कर उस जीवसंयुक्त जल (जिवानी) को ज्ञानी जन सावधानी के साथ वहीं पर छोडते हैं।

स्नान आदि बाह्यक्रियाओं व पीने आदि के लिए भी छना हुआ जल ही प्रयोग करना चाहिये।

जल की मर्यादा

मुहूर्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम् ।
उष्णोदकमहोरात्रं ततः सम्मूर्छिमं भवेत् ।। २१.

अन्वयार्थ :

गालितम्	छना हुआ
तोयम्	जल
मुहूर्तम्	मुहूर्त पर्यन्त
प्रासुकम्	प्रासुक जल
प्रहरद्वयम्	दो प्रहर पर्यन्त
उष्ण	उष्ण
उदकम्	जल
अहोरात्रम्	चौबीस घण्टे तक (शुध्द है)
ततः	उसके बाद (उसमें)
सम्मूर्च्छिमम्	सम्मूर्च्छन जीवों से युक्त
भवेत्	होता है।

> **ज्ञातव्य है कि**
> श्रावकाचार संग्रह में मुहूर्त के स्थानपर मुहूर्तादि तथा सम्मूर्च्छिमं की जगह सम्मूर्च्छितो छपा है।

अर्थ : छना हुआ पानी एक मुहूर्त तक, प्रासुक जल छह घण्टे तक तथा उबला हुआ पानी चौबीस घण्टे तक शुध्द रहता है। तत्पश्चात् उस में सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ : धम्मस्स मूलं दया (दया, धर्म का मूल है) जीव दया का पालन किये विना धर्म पालन नहीं होता। अनछने पानी में असंख्यात जीव होते हैं–

अतः दयालु को पानी को छानकर ही प्रयोग में लेना चाहिये।

अ. कपड़े से छना हुआ जल एक मुहूर्त पर्यन्त ग्राह्य है।

ब. प्रासुक जल दो प्रहरतक यानि छह घण्टें तक शुध्द है।

शंका : प्रासुक जल किसे कहते हैं?

समाधान : जिस पानी के वर्ण को चंदन-लौंग आदि के द्वारा बदल दिया हो अथवा जिस पानी के स्वाद को इलायची, कपूर आदि के द्वारा बदल दिया हो, वह जल प्रासुक कहलाता है। ब्रह्मनेमिदत्त ने लिखा है कि –

गालितं तोयमप्युच्चैः सन्मूर्च्छति मुहूर्त्ततः।
प्रासुकं यामयुग्माच्च सदुष्णं प्रहराष्टकान् ।।
कर्पूरैर्वालवङ्गाद्यैः सुगन्धैः सारवस्तुभिः ।
प्रासुकं क्रियते तोयं कषाय द्रव्यैकस्तथा ।।

(धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार ४/१०-११)

अर्थ : 'अच्छी प्रकार से गाला गया जल भी एक मुहूर्त के पश्चात् सम्मूर्च्छन जीवों को उत्पन्न करता है, प्रासुक किया हुआ जल दो प्रहरों के पश्चात् और खूब उष्ण किया हुआ जल आठ प्रहर के बाद सम्मूर्च्छित होता है। " " कपूर, इलायची, लौंग आदि सुगन्धित सार वस्तुओं से, तथा कषायले हरड, आँवला आदि द्रव्यों से जल प्रासुक किया जाता है।

क. अच्छी तरह गरम किया हुआ जल चौबीस घण्टों पर्यन्त प्रयोग में लिया जा सकता है।

इन मर्यादाओं के बाद जल में सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं, अतः मर्यादातिक्रान्त पानी का प्रयोग करना, अनुचित है।

प्रासुक करने की विधि

तिल-तण्डुल-तोयं च प्रासुकं भ्रामरी गृहे।
न पानाय मतं तस्मान्मुखशुध्दिर्न जायते।। २२.

अन्वयार्थ :

तिल	तिल
च	और
तण्डुल	चावल (मिश्रित)
तोयम्	जल
भ्रामरी गृहे	भोजन गृह में
प्रासुकम्	प्रासुक है (उससे)
मुखशुध्दिः	मुखशुध्दि
न	नहीं
जायते	होती
तस्मात्	इसलिए (उसे)
पानाय	पीने के लिए (योग्य)
न	नहीं
मतम्	माना है।

अर्थ : तिल और चावल से मिश्रित जल भोजनालय में शुध्द है किन्तु उस से मुखशुध्दि नहीं होती, अतएव उसे पीना योग्य नहीं है।

भावार्थ : अनन्तर पूर्व श्लोक में जल को प्रासुक करने की विधि बताई गई थी। उस को सुनकर शिष्य प्रश्न करता है कि यदि रंग बदलने से पानी प्रासुक है तो तिल या चावल का पानी शुध्द माना जाना चाहिये। आचार्य भगवन्त समझाते हैं कि तिल या चावल मिश्रित जल भोजन बनाते समय शुध्द माना जाता है, परन्तु उस के पीने से मुखशुध्दि नहीं होती, अतः उस को पीने के योग्य नहीं माना है।

अन्य प्रकार से प्रासुक जल

पाषाण स्फोटितं तोयं घटी-यन्त्रेण ताडितम् ।
सद्यः संतप्त-वापीनां प्रासुकं जलमुच्यते।। २३
देवार्षीणां प्रशौचाय स्नानाय च गृहार्थिनाम् ।
अप्रासुकं परं वारि महातीर्थजमप्यदः ।। २४

अन्वयार्थ :

पाषाण	पाषाण से
स्फोटितम्	टकराया हुआ
घटीयन्त्रेण	घटी यन्त्र से
ताडितम्	ताडित किये हुए
वापीनाम्	वापिकाओं का
संतप्त	गरम
सद्यः	ताजा
तोयम्	जल
देवार्षीणाम्	साधुओं के
प्रशौचाय	शौच के लिए
च	और
गृहार्थिनाम्	श्रावकों के
स्नानाय	स्नानार्थ
प्रासुकम्	प्रासुक
जलम्	जल
उच्यते	कहा जाता है।
परम्	अन्य कार्यार्थ (ऐसा)
वारि	जल
अप्रासुकम्	अप्रासुक है।
महातीर्थजम्	महातीर्थों से उत्पन्न हुआ
अदः	जल
अपि	भी
अप्रासुकम्	अशुध्द है।

ज्ञातव्य है कि
श्रावकाचार संग्रह में पाषाण स्फोटितं की जगह पाषाणोत्स्फुटितं छपा हुआ है। तथा देवार्षीणां की जगह देवर्षीणां छपा हुआ है।

अर्थ : पाषाण स्फोटित, घटीयन्त्र ताड़ित, वापिकाओं का गरम एवं ताजा जल साधुओं के शौच के लिए तथा गृहस्थों के स्नान के लिए शुध्द है। अन्य कार्यों के लिए नहीं, भले ही वह तीर्थों का जल ही क्यों न हो।

भावार्थ : पत्थरों से टकराता हुआ पानी अर्थात् धबधबे का जल, घटि यन्त्र से ताड़ित किया हुआ जल और सूर्य किरणों से स्वयं तपा हुआ जल प्रासुक माना गया है। अतः साधुगण इसे शौच-शुध्द्यादि कार्यों के लिए तथा गृहस्थ उसे स्नान के लिए प्रयोग में ले सकता है। अन्य कार्यों में वह शुध्द नहीं है।

शंका : वैदिक मतानुयायी तीर्थ क्षेत्र से लाये हुए जल को तथा गंगा आदि से लाये हुए जल को शुध्द मानते हैं। क्या यह उचित है?

समाधान : नहीं, ऐसा नहीं मानना चाहिये। जल चाहे गंगादि नदियों का हो अथवा तीर्थ क्षेत्रों का हो अथवा सामान्य स्थलों का हो, सम्मूर्च्छन जीव सभी में उत्पन्न होते हैं।

अतः विधि पूर्वक शुध्द करके ही जल का प्रयोग करना चाहिये।

एकादश प्रतिमा का वर्णन

प्रतिमाः पालनीयाः स्युरेकादश गृहेशिनाम् ।
अपवर्गाधिरोहाय सोपानन्तीह ताः पराः ।। २५.

अन्वयार्थ :

गृहेशिनाम्	गृहस्थों को
एकादश	ग्यारह
प्रतिमाः	प्रतिमाएं
पालनीयाः	पालनी
स्युः	चाहिये
ताः	वे (प्रतिमाएं)
इह	यहाँ (ऐसे मनुष्य भव में)
पराः	उत्कृष्ट हैं (और)
अपवर्ग	मोक्ष में
अधिरोहाय	चढने के लिए
सोपानन्ति	सोपान है

अर्थ : गृहस्थों को ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना चाहिये। वह प्रतिमाएं मनुष्य भव में उत्कृष्ट हैं तथा मोक्ष में पहुँचने हेतु सीढियों के समान हैं।

भावार्थ : श्रावक के लिए आगम में ग्यारह प्रतिमाओं को पालन करने का आदेश है।

१. दर्शन प्रतिमाधारी : सम्यग्दर्शन २५ दोष रहित हो जाये व अष्टांग की पूर्णता से युक्त हो जाये, संसार शरीर व भोगों से विरति की उपलब्धि हो जाये, पंच परमेष्ठी ही शरणभूत लगने लग जाये, उसे दर्शन प्रतिमाधारी कहा जाता है।

ऐसा जीव जिनाज्ञा को ग्राह्य मानता है। भय, आशा, स्नेह-लोभ आदि के कारण वह कुदेवादिक की उपासना नहीं करता। पंच पापों को हेय मानकर उसे त्यागने का प्रयत्न करता है। प्रशम, संवेग, आस्तिक्य, अनुकम्पा आदि गुणों को धारण करता है, सप्त व्यसनों का सेवन नहीं करता, जो नीतिवान हो, जिसको मोक्षमार्ग में बढ़ते रहने की इच्छा होती है, उस साम्यग्दृष्टि को दर्शन प्रतिमाधारी कहा जाता है।

२. व्रत प्रतिमाधारी : जो पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों को गुरु चरणों की साक्षी से अंगीकार करता है तथा उसका निरतिचार पालन करता है, वह व्रत प्रतिमाधारी है।

३. सामायिक प्रतिमाधारी : सामायिक का अर्थ पूर्व में ही बता चुके हैं। जो श्रावक.

प्रतिदिन त्रिकाल में (प्रातः, मध्याह्न व सायंकाल में) त्रययोगों की शुध्दि पूर्वक १२ आवर्त व ४ प्रणाम करता है तथा दो घड़ी कालपर्यन्त सामायिक करता है, उस श्रावक को सामायिक प्रतिमाधारी कहते हैं।

सामायिक प्रतिमाधारी को सामायिक करते समय, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावों की शुध्दि का ध्यान रखना चाहिए।

४. प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी : अष्टमी, चतुर्दशी को प्रोषध कहते हैं, उस दिन उपवास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं। प्रोषध-उपवास करने वाला प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी है। ऐसा श्रावक उपवास के दिन आरम्भ, परिग्रह का त्याग कर के अपना उपयोग आत्मा के सन्मुख करता है।

५. सचित्त त्याग प्रतिमाधारी : मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून और बीज इनको अपक्वावस्था में न खानेवाला व्रती सचित्त त्याग प्रतिमाधारी है।

मूल	-	गाजर, मूली आदि
फल	-	आम, अनार, अमरुद आदि
शाक	-	हरे पत्तेवाली सब्जी
शाखा	-	वृक्ष की नई कोंपल
करीर	-	बांस का अंकुर
कन्द	-	जमीकन्द
प्रसून	-	गोभी आदि के फूल
बीज	-	गेहूं आदि.

ये अप्रासुक अवस्था में सचित्त (जीवयुक्त) होते हैं। अतएव इस को जो नहीं खाता, उसे सचित्त त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं।

इस में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि श्रावक अभक्ष्य भक्षण नहीं करता है, अतएव श्रावक अवस्था के प्रारम्भ में ही जमीकन्दादिक का त्याग हो जाता है। यहाँ भक्ष्य पदार्थों में यदि वह पदार्थ सचित्त हो, तो उसको खाने का निषेध किया है। प्रासुक कैसे करें?

सुखाना, पकाना, आग पर गर्म करना, चाकू के द्वारा छिन्न-भिन्न करना, नमक आदि मिलाना यह सब पदार्थों को प्रासुक करने की पध्दतियाँ हैं।

कई लोग मात्र गरम करने पर ही प्रासुकता स्वीकार करते हैं, अन्य विधियों से वे प्रासुकता को मान्य नहीं करते, उन्हे मूलाराधना ८२, गोम्मटसार (जीव काण्ड) २२५ देखना चाहिये।

६. रात्रि भोजन त्याग प्रतिमाधारी

भोजन के चार भेद हैं।

१. खाद्य - खाने योग्य, जैसे रोटी, दाल, सब्जी आदि।

२. स्वाद्य - स्वाद लेने योग्य, जैसे रबड़ी आदि।

३. लेह्य - चाटने योग्य, जैसे चटनी आदि।

४. पेय - पीने योग्य, जैसे दूध, पानी आदि।

जो व्रती चारों प्रकार के भोजन में से रात के समय किसी भी प्रकारका भोजन नहीं करुगा, ऐसा सकल्प करता है, वह रात्रि भाजन त्याग प्रतिमाधारी है। रात्रि काल में भोजन करने से आध्यात्मिक, शारीरिक पक्षीय हानि होती है। दया का पालन नहीं होता, अहिंसा का निर्वहण नहीं होता, अतएव व्रती रात्रि में भोजन नहीं करता।

इस प्रतिमा का दूसरा नाम "दिवा मैथुन त्याग" भी है। इस का अर्थ है इस प्रतिमा का धारक व्रती दिन में स्त्री संभोग नहीं करता।

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी : ब्रह्म यानि आत्मा, आत्मा के लिए जो चर्या की जाती है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस का अर्थ है कि आत्मा की आत्मा के माध्यम से आत्मा में जो चर्या होती है, उसको ब्रह्मचर्य ऐसा कहते हैं।

यह बहुत ऊँची दशा है, इतनी ऊँची दशा हजारों में से एकाध व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है। इस दशा की ओर बढ़ने के लिए अनेक प्रयत्न करना आवश्यक है, जिस में एक है, ब्रह्मचर्य प्रतिमा।

गृहस्थ पहले से ही स्वदार संतोष नामक व्रत का स्वामी होता है। अर्थात् वह पर स्त्री के प्रति अपने मन में कोई दुर्भावना उत्पन्न नहीं होने देता। इस प्रतिमा में व्रती स्व स्त्री से भी रति क्रीड़ा नहीं करता। यह व्रती कामोद्दीपक वस्तुओं का प्रयोग नहीं करता, स्त्री राग कथा श्रवण आदि वासना को बढ़ाने वाले कार्य वह नहीं करता। वह मन को स्वस्थ व पवित्र रखने के लिए प्रति समय स्वाध्याय व गुरु सेवा में मन को लगाता है।

मन बड़ा चंचल है। प्रतिक्षण वह विभावों की ओर बढ़ रहा है। प्रति समय वासनाओं का ज्वार उभर रहा है, मनोसागर में। इस ज्वार को रोकने के लिए मन को विषय वासनाओं से दूर करना जरुरी है। यह कार्य ब्रह्मचारी ही कर सकता है, अतएव इस प्रतिमा का बहुत बड़ा महत्त्व है।

ब्रह्मचर्य से शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि तप व त्याग में वृध्दि करने में सहयोग मिलता है। ज्ञान की वृध्दि करने का अवसर मिलता है, ध्यान में मन लगने लगता है। अर्थात् सारी साधनाओं का मूल यह व्रत है, अतएव आध्यात्मिक उन्नति का इच्छुक इसे ग्रहण करता है।

८. आरम्भ त्याग प्रतिमा : असि, मसि, कृषि, सेवा, वाणिज्य और शिल्प ये षट् कर्म

हैं, जिनके माध्यम से गृहस्थ अपनी आजीविका चलातें हैं। इस प्रतिमा का धारक षट् कर्म नहीं करता है।

९. परिग्रह त्याग प्रतिमा : परित यानि चारों ओर से, जो जीव को चारों ओर से बांध देवे, वह परिग्रह है। परिग्रह दो प्रकार का है। क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन, धान्य, दासी,दास, कुप्य और भाण्ड ये १० प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं, तथा मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुषवेद व नपुंसक वेद ये १४ आभ्यंतर परिग्रह हैं।

इस प्रतिमा को धारण करने वाला बाह्य परिग्रह को त्यागता है व आभ्यंतर परिग्रहों को कम करने का प्रयत्न करता है।

१०. अनुमति त्याग प्रतिमा : इस प्रतिमा का धारक जीव जिन कार्यों से आरम्भ और परिग्रह की वृध्दि होती है, जिनसे पाप कर्मों का उपार्जन होता है, ऐसे कार्यों में अपनी स्वीकृति नहीं देता है।

११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा : इस प्रतिमा का धारक जीव अपने घर को छोडकर गुरु के आश्रम में पहुँचता हैं। गुरु की साक्षी से अपने गृहस्थाश्रम को त्याग कर वानप्रस्थाश्रम को धारण करता हैं। भक्ति भाव से सद् गृहस्थ द्वारा दी गई भिक्षा से अपने उदर का पोषण करता है। अर्थात् जो उद्दिष्ट आहार ग्रहण नहीं करता, वह उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का पालक हैं।

इस प्रतिमा के पालक क्षुल्लक - ऐलक होते हैं । जो लंगोटी व दुपट्टा रखते हैं, वे क्षुल्लक हैं। व जो मात्र लंगोटी धारक हो, वे ऐलक कहलाते हैं। ऐलक रात्रि में मौन रखते हैं व केशलोंच करते हैं। उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से प्रतिमा तीन प्रकार की वर्णित है। आगम में लिखा है कि–

जघन्य : १ से ६ प्रतिमाधारी जघन्य श्रावक हैं।

मध्यम : ७, ८ व ९ प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक हैं।

उत्तम : १० व ११ प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक हैं।

अभक्ष्य

चर्मपात्रं गतं तोयं धृतं तैलं च वर्जयेत् ।
नवनीतं प्रसूनादि शाकं नाद्यात् कदाचन ।। २६.

अन्वयार्थ :

चर्मपात्रम्	चर्मपात्र में
गतम्	रखा हुआ
तोयम्	जल
धृतम्	घी
च	और
तैलम्	तेल
वर्जयेत्	त्यागना चाहिये।
नवनीतम्	मक्खन
प्रसूनादि	पुष्पादि
शाकम्	शाक
कदाचन	कभी
न	न
अद्यात्	खावें।

ज्ञातव्य है कि

श्रावकाचार संग्रह में चर्मपात्रं की जगह चर्मपात्र छपा हुआ है तथा धृतं की जगह भी धृत छपा हुआ है।

अर्थ : चमडे के बर्तन में रखा हुआ जल, घी व तेल छोड़ देना चाहिये तथा कभी भी मक्खन, पुष्पादि शाक नहीं खानी चाहिए।

भावार्थ : चमड़े में प्रति समय उसी जाति के असंख्यात् जीव उत्पन्न होते रहते हैं। चर्म पात्र में रखे हुए पदार्थों का भक्षण करने से मांसाहार का दोष लगता है। अतः सद्गृहस्थ को चर्म पात्रगत जल-तेल-घी आदि का त्याग करना चाहिये।

पण्डित प्रवर आशाधर जी ने चर्मपात्र स्थित वस्तुओं का भक्षण करने को मांस भक्षण का अतिचार बताया है। यथा -

चर्मस्थमम्भस्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते।।

(सागर धर्मामृत ३/१२)

अर्थ : चर्म पात्र में रखा हुआ जल, स्नेह (तेल व घी) चर्माच्छादित हींग और स्वादचलित सम्पूर्ण भोज्य पदार्थों का उपयोग करने से मांस त्याग व्रत में अतिचार होता है।

लाटी संहिताकार का स्पष्ट निर्देश है कि

चर्मभाण्डे तु निक्षिप्ताः धृत-तैल-जलादयः।
त्याज्याः यतस्त्रसादीनां शरीरपिशिताश्रिताः।। (१/११)

अर्थ : चमड़े के बर्तन में रखे हुए तेल-घी-जल आदि का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि उस में रखे पदार्थों में त्रस जीवों के शरीर के मांसाश्रित रहनेवाले जीव अवश्य रहते हैं।

और भी विशेष वर्णन के लिए देवसेन विरचित सावयधम्म दोहा - (३२) विलोकनीय है।

दही बिलौने पर जो लौनी निकलती है, उसी का नाम मक्खन हैं। सद्गृहस्थ को नवनीत का त्याग कर देना चाहिए। आ. अमृतचन्द्र लिखते हैं कि –

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूत जीवानाम् । (पुरुषार्थ सिध्द्युपाय - १६३)

अर्थ : अनेक जीवों के उत्पन्न होने का योनिस्थान होने से नवनीत त्याज्य है।

आ. देवसेन ने नवनीत खानेवाले को अन्धा कहा है। देखो - (सावयधम्मदोहा -२८)

पं आशाधर जी ने लिखा है कि –

मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः।
द्वि-मुहूर्तात्परं शश्वत्संसजन्त्यंगिराशयः।।

(सागर धर्मामृत २/१२)

अर्थ : धार्मिक पुरुषों को मधु के समान मक्खन को भी छोड़ देना चाहिये, क्योंकि उस में दो मुहूर्त के बाद निरंतर बहुत जीवों का समूह उत्पन्न होता है।

शंका : दो मुहूर्त पर्यन्त नवनीत शुध्द है - ऐसा उपरि श्लोक से सिध्द होता है। फिर दो मुहूर्त पर्यन्त नवनीत खाने में क्या दोष है?

समाधान : नवनीत गरिष्ठ होने से कामोत्तेजक है। कामोत्तेजना बढ़ानेवाले पदार्थों का भक्षण करने से व्रत निरतिचार नहीं पल सकते, अतः नवनीत का पूर्णतया त्याग कर देना ही उचित है।

आ. समन्तभद्र कहते हैं कि

अल्पफल बहुविघातान्मूलकमार्द्राणि श्रृंगवेराणि।
नवनीत निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार ८५)

अर्थ : जिस में लाभ थोड़ा और बहुत प्राणियों का घात होवे-ऐसे मूली-गीली अदरक, मक्खन, नीम के फूल, केवड़ा आदि के फूल न खावें।

बहुजीवघात के भय से गृहस्थ पुष्पादि शाक नहीं खावें।

वर्तमान युग में मुनि कहाँ रहें?

कलौ काले वनेवासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः ।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ।। २७.

अन्वयार्थ :

मुनिसत्तमैः	मुनिश्रेष्ठों को
कलौ-काले	कलिकाल में
वने	वन में
वासो	निवास करना
वर्ज्यते	त्याज्य है
च	और (उन्हें)
विशेषतः	विशेष रूप से
ग्रामादिषु	ग्रामादिक में
जिनागारे	जिनालयों में
स्थीयते	रहना चाहिये।

अर्थ : कलिकाल में मुनियों को वन में नहीं रहना चाहिये, अपितु उन्हें विशेष करके ग्रामादिक में अथवा जिनालयों में रहना चाहिये।

भावार्थ : सिध्दान्त और क्रिया दोनों में बहुल अन्तर है। सिध्दान्त सर्वदा अबाधित व परिवर्तन विहीन होते हैं। क्रियाएं द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावों के अनुरूप सतत परिवर्तित होती रहती हैं।

मुनियों को कहाँ रहना चाहिये ? यह क्रिया का विषय है। जब कोई भव्य आत्म साधना का लक्ष्य बनाता है, तो वह भोगोपभोगों को तजकर दिगम्बर मुद्रा को धार लेता है। जिसने तीर्थंकर मुद्रा को धारण कर लिया तो उसके लिए महल मसान, काँच-कंचन, मित्र-शत्रु, सुवर्ण-माटी आदि में समत्व भाव आवश्यक है, समत्व की साधना ही उन की चारित्र साधना अथवा आत्म-धर्म की साधना है।

वर्तमान में कुछ लोग "मुनियों को वन में ही रहना चाहिये" इस आग्रह के पक्षधर हैं। वे अपने आग्रह के द्वारा समाज के अनेक भोले श्रावकों में अश्रध्दा-भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

ग्यारहवी सदी के महाविद्वान् आचार्य पद्मनन्दि लिखते हैं कि -

संप्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे, मुनिस्थितिः। (पद्मनन्दि पंचविंशतिका ६/६)

अर्थात : इस समय यहाँ इस कलिकाल में मुनियों का निवास जिनालयों में हो रहा है।

मुनियों को वहाँ निवास करना चाहिये, जहाँ उन्हें अपनी साधना के अनुकूल सामग्री

उपलब्ध हो जाये। कहीं इन्द्रिय-सुख प्रवृत्ति न बढ़े, राग न बढ़े आदि उद्देश्यों से यद्यपि मुनिगण श्रावकों से (असंमियों से) दूर ही रहते हैं, परन्तु साधना के लिए क्वचित् उन से सम्बन्ध भी रखते हैं। आ. कुन्दकुन्द लिखते हैं कि –

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाण गुरुबाल वुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदो वा सुहोवजुदा ।।

(प्रवचनसार - २५३)

अर्थ : रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से शुभोपयोगयुक्त मुनि का लौकिक जनों के साथ बातचीत करने का निषेध नहीं है।

पहले समय में और वर्तमान समय में संहनन में अन्तर है। पहले संहनन मजबूत था, अनेकों उपवास करना, - परिषहों को सहन करना, उन के लिए जितना संभव था, जो आज हीन संहनन के कारण उतना संभव नहीं है। यद्यपि आज के मुनि भी भूतकालीन मुनियों के समान ही निर्ममत्ववान् हैं - परन्तु संहनन की मर्यादा है।

ऐसा नहीं है कि पहले सम्पूर्ण मुनिगण वनों में ही रहते हो। श्रावकों के यहाँ अथवा जिनालयों में भी वे रहते थे तथा राजा के उद्यान में भी उनका रहना होता था। यथा –

१. राजा ने सेठ और ग्वाला के साथ सहस्त्र कूट जिनालय में जाकर जिन भगवान् की वंदना की और तत्पश्चात् सुगुप्त मुनि की वंदना की (पुण्याश्रव कथाकोश पूजाफल - ६)

२. मणिमाली मुनि ने जिनदत्त सेठ के घर पर (उज्जयिनी नगरी में) चातुर्मास किया। (पुण्याश्रव कथा कोश – पूजाफल - ८)

३. सुकुमार के मामा यशोभद्र मुनिराज ने भवन के निकटवर्ती उद्यान में स्थित जिन भवन में चातुर्मास किया। (पुण्याश्रव कथाकोश-श्रुतोपयोग फल - ४/५)

मुनिगण विविक्त वसतिका में रहते हैं। वह विविक्त वसतिका कौनसी है? इसका उत्तर देते हुए आ. शिवकोटि लिखते है कि –

जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु सहरसरूवगंध फासेहिं ।
सज्झायज्झाणबाधादो वा वसधी विवित्ता सा।।

अर्थ : जा वसतिका में शब्द, रस, रूप, गन्ध, स्पर्शकरि अशुभ परिणाम नाहीं होय तथा स्वाध्याय का अर शुभध्यान का घात नहीं होय, सो विविक्त वसतिका है।

आगे वे लिखते हैं कि

सुण्णघर गिरिगुहा रुक्खमूल आगन्तुगारदेवकुले।
अकंदप्पब्भारारामघरादीणि य विचित्ताइं ।।

(भगवती आराधना २३६)

अर्थात : शून्यघर, गिरि, गुफा, वृक्षमूल, धर्मशाला, जिनमन्दिर आदि अपने निमित्त न बनाई गई विविक्त वसतिका साधु के योग्य है।

उपर्युक्त गाथा में देवकुले (जिनमन्दिर) तथा आगंतुगार (धर्मशाला) को विविक्त वसतिका माना है। साधु विविक्त वसतिकाओं में निवास कर सकते हैं।

आ. शुभचन्द्र लिखते हैं कि –

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम् ।
तत्रैव वसतिः साध्वी, ध्यानकाले विशेषतः ।।

(ज्ञानार्णव २८/८)

अर्थ : जिस स्थान में रागदिक दोष निरन्तर लघुता को प्राप्त हो, उसी स्थान में मुनि को बसना चाहिए तथा ध्यान के काल में तो अवश्य ही योग्य स्थान को ग्रहण करना चाहिए।

मुनियों को सामान्यतया अब ऐसी वसतिकाओं का चयन करना चाहिये कि,

१. जिस में स्त्री-पुरुष नपुंसकों का आवागमन कम हो।
२. जिस में हिंस्र श्वापदों से व दुर्जनों से उपसर्ग न हो।
३. जो वर्षा-आतप - हिम आदि की बाधा से वर्जित हो।
४. जो क्षोभक, विकार वर्धक और मोहक न हो।
५. जो नास्तिकों के द्वारा सेवित न हो।

अतः आगम मर्यादा को जान कर ही शब्दोच्चारण होने चाहिये, जिस से मुनिधर्म के प्रति अश्रध्दाभाव उत्पन्न न होवें।

मुनियों को कौन-कौन सी वस्तु देवें?

तेषान्नैर्ग्रंथ्यपूतानां मूलोत्तर-गुणार्थिनाम् ।
नाना यति निकायानां छद्स्थ ज्ञान-राजिनाम् ।। २८.
ज्ञानसंयमशौचादि-हेतूनां प्रासुकात्मनाम् ।
पुस्तपिच्छक मुख्यानां दानं दातुर्विमुक्तये ।। २९.

अन्वयार्थ :

तेषाम्	उन
नैर्ग्रंथ्य	निर्ग्रंथता से
पूतानाम्	पवित्र
मूलोत्तर	मूलोत्तर
गुणार्थिनाम्	गुणों के इच्छुक
छद्मस्थ	छद्मस्थ
ज्ञान राजिनाम्	ज्ञान से शोभित
नाना	अनेक
यति	साधुओं के
निकायानाम्	समूह में
ज्ञान	ज्ञान
संयम	संयम
शौचादि	शौच आदि के
हेतूनाम्	हेतु से
प्रासुकात्मनाम्	शुध्द
पुस्त	पुस्तक
पिच्छक	पिच्छिका आदि
मुख्यानाम्	मुख्य
दानम्	दान
दातुः	दाता को
विमुक्तये	मुक्त करता है।

अर्थ : जो निर्ग्रंथता से पवित्र हैं, मुलोत्तर गुणों से संयुक्त हैं, क्षायोपशामिक ज्ञान से सुशोभित हैं, उन यतियों के समुदाय में जो दाता ज्ञान, संयम तथा शौच के हेतु से पुस्तक, पिच्छि, कमण्डलु आदि का दान करता है, वह दाता संसार से मुक्त होता है।

भावार्थ : इस श्लोक यमक में मुनियों के लिए तीन विशेषण दिये गये हैं।

१. नैर्ग्रन्थ्यपूत : (जो निर्ग्रंथता से पवित्र हैं।) **निर्ग्रन्थाः परिग्रहरहिताः।** (मोक्षपाहुड-८०) इसी को स्पष्ट करते हुए आर्यिका ज्ञानमती लिखती है कि " **बाह्याभ्यन्तर परिग्रह ग्रन्थिभ्यो निष्कान्तः निर्ग्रंथः** (नियमसार-४४) अर्थात् जिनकी बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह की ग्रन्थियाँ विनष्ट हो चुकी हैं, वे निर्ग्रंथ हैं।

आचार्य जयसेन का कथन है कि -

यथाजातरूपधरः व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं निश्चयेनतु स्वात्मरूपं तदित्थंभूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रंथो जात इत्यर्थः।

(प्रवचनसार-२०४)

अर्थात् - व्यवहार नय से नग्नत्व यथाजातरूप पना है और निश्चय से यानि आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप है, वह यथाजातरूप है। साधु इन दोनों को धारण कर निर्ग्रंथ हो जाता है।

आचार्य वीरसेन स्वामी का कथन है कि:

ववहारणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, अब्भंतर गंथकारणत्तादो। एदस्स परिहरणं णिग्गंथत्तं।
णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्तं।

(धवला ९/३२३)

अर्थात् :

व्यवहार नय की अपेक्षा क्षेत्रादिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे अभ्यन्तर ग्रन्थ के कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चय नय की अपेक्षा मिथ्यात्वादिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि, वे कर्मबन्ध के कारण हैं और इन का त्याग करना निर्ग्रन्थता है।

दश प्रकार के बाह्य परिग्रह एवं चौदह आभ्यन्तर परिग्रह इस प्रकार जो चौबीस परिग्रहों से पूर्ण विमुक्त हैं, जो बालकवत् निर्विकार हो चुके हैं, जो दिशाओं के वस्त्र पहनते हैं-ऐसे दिगम्बर मुनिराज नैर्ग्रंथ्यपूत हैं।

२. मूलोत्तर गुणार्थी : जिन के विना मुनित्व समाप्त हो जाये, ऐसा आचरण मूलगुण संज्ञा को प्राप्त होता है। आचार्य वसुनन्दि के अनुसार उत्तर गुणों के आधारभूत गुणों को मूलगुण कहते हैं। **मूलगुणा उत्तरगुणाधारभूताः।** (मूलाचार १/३)

मुनियों के २८ मूलगुण हैं। आ. वीरनन्दि लिखते हैं कि -

युक्ताः पञ्च महाव्रतैः समितयः पञ्चाक्षरोधाशयाः।
पञ्चावश्यकषट्क लुचनवशाचेलक्यमस्नानता।।
भू-शय्या स्थिति भुक्ति दन्तकषणं चाप्येक भक्तंयता
वेवं मूलगुणाष्ट विंशतिरियं मूलं चरित्रश्रियः।। (आचारसार १/१४)

अर्थात : पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच समिति पाँच पंचेन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक, केशलोंच, श्रेष्ठ अचेलकत्व, स्नानत्याग, भूमि पर शयन करना, खड़े हो कर आहार

करना, दान्तौन नहीं करना और दिन में एक बार भोजन करना, ये मुनियों में चारित्र श्री के मूलभूत अट्ठाईस मूलगुण होते हैं।

जो गुण मूलगुणों की शोभा बढ़ाते हैं, मुलगुणों की सुरक्षा करते हैं, वे गुण उत्तरगुण कहलाते हैं। बारह तप और बाईस परीषह ये कुल चौंतीस उत्तरगुण होते हैं।

आचार्य वट्टकेर ने लिखा है कि –

ते मुलुत्तरसण्णा मूलगुणा महव्वदादि अडवीसा।
तवपरिसहादिभेदा चोत्तीसा उत्तर गुणक्खा।।

(मूलाचार १/३)

अर्थ : ये मूलगुण और उत्तरगुण जीव के परिणाम हैं। महाव्रत आदि मूलगुण अट्ठाईस हैं, बारह तप और बाईस परीषह ये ३४ उत्तरगुण होते हैं।

मुनिराज मूलगुण और उत्तरगुणों के परिपालक होते हैं।

३. **छद्मस्थ ज्ञानराजी :** छद्मस्थ शब्द की परिभाषा करते हुए ब्रह्मदत्त ने लिखा है कि– **छद्मशब्देन ज्ञानदर्शनावरण द्वयं भण्यते, तत्र तिष्ठन्ति इति छद्मस्थाः।** (बृहद् द्रव्यसंग्रह -४४)

अर्थ : "छद्म" इस शब्द से ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दोनों कहे जाते हैं। उस छद्म में जो रहें, वे छद्मस्थ हैं।

आचार्य वीरसेन भी इसी बात को स्वीकार करते हैं। यथा-

छद्म ज्ञान दृगावरणे तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्था : (धवला १-१८९)

एक अन्य परिभाषा देते हुए आ. वीरसेन कहते हैं कि –

संसरन्ति अनेन घाति कर्म्मकलापेन चतसृषु गतिष्विति घाति कर्म्मकलापः संसारः।
तस्मिन् तिष्ठन्तीति संसारस्थाः छद्मस्थाः भवन्ति।

(धवला १३/४४)

घातिकर्म समूह के कारण जीव चारों गतियों में संसरण करते हैं, वह घाति कर्म समूह संसार है और उस में रहने वाले जीव संसारस्थ अर्थात् छद्मस्थ हैं।

छद्मस्थ जीवों को क्षायोपशमिक ज्ञान पाये जाते हैं, जिन्हें छद्मस्थ ज्ञान कहते हैं। मुनीश्वर निरन्तर ज्ञानाराधना करते हैं, फलतः उन का श्रुतज्ञान सातिशय होता है। तप के प्रभाव से उन्हें अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञान हो सकता है। अर्थात् मुनिराज दो अथवा तीन अथवा चार ज्ञानों से सुशोभित होते हैं।

ऐसे साधुओं के संघ में अर्थात् मुनि-आर्यिका-श्रावक और श्राविकाओं के समुदाय में अथवा ऋषि-मुनि-यति और अनगार के भेद से चतुस्संघ को प्रासुक द्रव्य प्रदान करना,

श्रावकों का कर्तव्य है।

साधु और श्रावक दोनों भी धर्म रूपी रथके दो चक्र हैं। दोनों ही परस्पर में उपकार-प्रत्युपकार करते हुए अपनी आत्मसाधना करते हैं। दोनों भी एक-दूसरे के बिना अपंग हैं।

साधु अपने आत्मानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान श्रावकों को देते हैं, जिस से श्रावक चारित्र के लिए नींव स्वरूप ज्ञान को प्राप्त होता है।

श्रावक साधु को आहारादि दान तथा साधना के अनुकूल उपकरण प्रदान कर के उनकी साधना को निर्विकल्प बनाता है।

मुनि के लिए तीन उपकरण आवश्यक होते हैं - ज्ञानोपकरण- संयमोपकरण और शौचोपकरण। ज्ञान का उपकरण शास्त्र है। साधु इस उपकरण से द्रव्य-भाव श्रुतज्ञान की वृध्दि और चारित्र की विशुध्दता प्राप्त करता है। संयम का उपकरण पिच्छिका है। इस उपकरण द्वारा मुनिगण सूक्ष्म और बादर जीवों की रक्षा करते हैं। कमण्डलु शौच का उपकरण है। इस का प्रयोग कर के मुनिराज अपने शरीर की शुध्दि करते हैं ताकि देववन्दना व स्वाध्यायादि कार्य किये जा सकें। अतएव ऐसे उपकरणों का दान करना, साक्षात् मुक्ति प्रदान करने के समान है।

जिन में दान देने की शक्ति नहीं हो, वे कम से कम कलियुग में चलते फिरते इन तीर्थंकरों का (मुनीश्वरों का) आदर करते रहें, ताकि अक्षय पुण्य के भाजन बन सकें।

दान का फल

पञ्च सूना कृतं पापं यदेकत्र गृहाश्रमे।
तत्सर्वमतिथियेवासौ दाता दानेन लुम्पति।। ३०.

अन्वयार्थ :

गृहाश्रमे	गृहस्थाश्रम में
यत्	जो
पञ्चसूना	पंच सूनाओं
कृतम्	के द्वारा
एकत्र	एकत्रित
पापम्	पाप
तत्	उन
सर्वम्	सब को
अथितयेवासौ	अतिथि को
दानेन	दान देने से
दाता	दाता
लुम्पति	नष्ट करता है।

ज्ञातव्य है कि
श्रावकाचार संग्रह में मथितये की जगह मतये छपा हुआ है।

अर्थ : गृहस्थाश्रम में पंचसूना के द्वारा जो पाप उपार्जित हुए हैं, वे सब पाप दान करने से नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ : यहाँ पात्रदान का सु-फल बताया जा रहा है।

श्रावक अपने दिनचर्या के समय में पीसना, कूटना, भोजन पकाना, पानी भरना और बुहारना आदि पाप संवर्धक पंच सूना रूप आरंभ करता है। उन क्रियाओं से समुपार्जित पाप कर्म को दाता दान के द्वारा ही नष्ट करता है।

महर्षि समन्तभद्र ने लिखा है कि –

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिर-मलं धावते वारि।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार ११४)

अर्थ : गृह कर्म द्वारा संचित पाप गृहविमुक्त अतिथि के प्रति पूजन से वैंसा ही नष्ट हो जाता है, जैसे-पानी से खून के दाग।

पं. आशाधर जी ने लिखा है कि

पञ्चसूनापरः पापं गृहस्थः सञ्चिनोति यत् ।
तदपि क्षालयत्येव मुनिदान विधानतः ।।

(सागार धर्मामृत ५/४९)

अर्थ : पाँचसूना में प्रवृत्त जो गृहस्थ जिस पाप को संञ्चित करता है, वह गृहस्थ मुनियों के लिए विधिपूर्वक दान देने से उस पाप को भी अवश्य नष्ट कर देता है।

आचार्य पद्मनन्दि ने लिखा है कि -

दाननैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका,
सैवस्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंस कृत् ।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते,
तन्नाशाय शशाङ्क शुभ्र यशसे दानं च नान्यत्परम् ।।

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका ७/१४)

अर्थ : दान के द्वारा ही गुण युक्त गृहस्थाश्रम दोनों लोकों को प्रकाशित करता है, इस के विपरीत उस दान के विना धनवान् मनुष्य का वह गृहास्थाश्रम दोनों लोकों को नष्ट कर देता है। सैकडों दुष्ट व्यापारों में प्रवृत्त होने पर गृहस्थ के जो पाप उत्पन्न होता है, उस को नष्ट करने का तथा चन्द्रमा के समान धवल यश की प्राप्ति का कारण वह दान ही है, उस को छोड कर पाप नाश और यश की प्राप्ति का और कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता।

इस संसार में पात्र का मिलना, बहुत दुर्लभ है। अतः पात्र लाभ होने पर दाता को सम्पूर्ण प्रमाद तज कर दान देना चाहिये।

दान के भेद

आहारभयभैषज्यशास्त्रदानादि भेदतः ।
चतुर्धा दानमाम्नातं जिनदेवेन योगिना।। ३१

अन्वयार्थ :

योगिना	योगियों के लिए
आहार	आहार
अभय	अभय
भैषज्य	औषध
शास्त्रदानादि	शास्त्रदानादि
भेदतः	भेद से
जिनदेवेन	जिनदेव के द्वारा
चतुर्धा	चार प्रकार का
दानम्	दान
आम्नातम्	कहा है।

अर्थ : आहार-औषध-अभय और शास्त्रदान के भेद से दान चार प्रकार का है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है । यह दान साधुओं को दिया जाता है।

भावार्थ : चतुस्संघ की आत्मसाधना निर्विघ्न हो, इस उद्देश्य से जिनेन्द्र देव ने चार प्रकार के दान की प्ररूपणा की है।

आहारदान : भूख सबसे बड़ा पाप है" वह शरीर की कान्ति को नष्ट कर देती है, बुध्दि को भ्रष्ट करती है, व्रत-संयम और तप में व्यवधान उत्पन्न करती है, आवश्यक कर्मों के परिपालन में बाधा उत्पन्न करती है, उस भूख के शमन करने के लिए प्रासुक, वातावरणानुकूल, साधना का वर्ध्दन करनेवाला आहार भक्तिपूर्वक मुनियों के लिए देना, आहारदान कहलाता है।

अभयदान : मुनियों के निवास हेतु प्रासुक वसतिका प्रदान करना, अभयदान है। धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ मनुष्य के लिए इष्ट हैं, वह बिना जीवन के संभव नहीं है। अतः पर जीवन की रक्षा करना, अभयदान है।

दया धर्म का मूल है, सम्पूर्ण दानों में जीवन दान सर्वश्रेष्ठ दान है, अतः अभयदान देना, निहायत जरुरी है।

औषध दान : असाता वेदनीय कर्म के उदय से तथा वीर्यान्तराय कर्म के उदय से शरीर में रोगों की उत्पत्ति होती है। यह रोग शरीर को अस्वस्थ और मन को अप्रसन्न बनाते हैं। रोगों के कारण साधना में कुछ शिथिलता आती है।

शरीर रोग-ग्रस्त हो जाने पर रोग निवारणार्थ शुध्द औषधि देना तथा समुचित परिचर्या करना, औषधदान है।

शास्त्र दान : जगत् में प्राणी का हितकारी बन्धु ज्ञान ही है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य तिर्यंच के समान माना गया है। ज्ञान से ही इसलोक और परलोक सम्बन्धित सम्पूर्ण हेयोपदेयता का बोध होता है। भेदविज्ञान का कारण भी ज्ञान ही है। ज्ञान से श्रध्दा व चारित्र दृढ होता है, मन एवं इन्द्रियाँ विषयों से विरक्त होती है, चित्त पवित्र होता है। अतः ज्ञान प्राप्ति के लिए जिनवाणी भेट करना, शास्त्रदान है।

चारों दानों का फल बताते हुए आ. पूज्यपाद लिखते हैं कि

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभय दानतः ।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद् भवेत् ।।

(पूज्यपाद श्रावकाचार-७१)

अर्थ : ज्ञानदान से मनुष्य ज्ञानवान् होता है, अभयदान से निर्भय रहता है, अन्न दान से नित्य सुखी और औषधिदान से सदा नीरोग रहता है।

आचार्य अमितगति दान की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं कि -

नानादुःखव्यसन निपुणामाशिना तृप्ति हेतून् ,
कर्मारिति प्रचयन परांस्तत्त्वतोऽवेत्य भोगान् ।
मुक्त्वाकाङ्क्षां विषयविषयां कर्म निर्नाश नेच्छो,
दद्याद्दानं प्रगुणमनसा संयतायापि विद्वान् ।।

(सुभाषित रत्न संदोह - १९/१७)

अर्थ : कर्मनाश का इच्छुक विद्वान् विषयभोगों को यथार्थतः अनेक दुःखों एवं आपत्तियों को प्राप्त करानेवाले, नश्वर, तृष्णा के बढ़ानेवाले और कर्म रूप शत्रुओं के संचय में तत्पर जानकर तद्विषयक अभिलाषा को छोड़ता हुआ संयमी जन के लिए सरल चित्त से दान देवें।।

अतः सत् श्रावक को स्व कल्याणार्थ चार प्रकार का दान यति-निकाय में देना चाहिये।

वैयावृत्ति की प्रेरणा

येनाद्यकाले यतीनां वैयावृत्त्यं कृतं मुदा।
तेनैव शासनं जैनं प्रोध्दतं शर्मकारणम् ।। ३२

अन्वयार्थ :

येन	जिस ने
अद्यकाले	वर्तमान काल में
मुदा	हर्ष पूर्वक
यतीनाम्	मुनियों की
वैयावृत्यम्	वैयावृत्ति
कृतम्	की
तेन	उस ने
एव	ही
शर्मकारणम्	सुख के कारण भूत
जैनम्	जैन
शासनम्	शासन का
प्रोध्दतम्	उध्दार किया।

अर्थ : जिस पुरुष ने आज के वर्तमान काल में हर्ष पूर्वक साधुओं की वैयावृत्ति की, उसने ही सुख के कारणभूत जैनशासन का उध्दार किया।

भावार्थ : वैयावृत्ति की परिभाषा करते हुए आ. समन्तभद्र लिखते हैं कि –

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ११२)

अर्थ : गुणानुराग से संयमी पुरुषों की आपत्तियों को दूर करना, उनके चरणों का मर्दन करना (दाबना) तथा इसी प्रकार की और भी जो उनकी सेवा-टहल या सार-संभाल की जाती है, वह सब वैयावृत्त्य है।

इस कलिकाल में संहनन की हीनता, असंयम की बहुलता आदि कारणों से चारित्र का परिपालन करना, अत्यन्त कठिन हो चुका है। मिथ्यात्व के बोल बाले के कारण संयमी जीवन व्यतीत करना-अत्यन्त दुष्कर हो रहा है। फिर भी आश्चर्य है कि आज अनेकों युवासन्त आत्मकल्याण के साथ साथ पर-कल्याण करने में संलग्न हैं। फिर भी मुनियों की संख्या नगण्य है अर्थात् पात्र प्राप्ति अतिशय दुर्लभ है।

वैभव हाथी के कर्ण अथवा काक के चक्षु के समान अत्यन्त चंचल हैं। कब आये और कब जाये? इस का कोई निश्चय नहीं है। पुण्य के फल से प्राप्त हुई विभूति को पुण्य कर के ही स्थिर रखा जाता सकता है। अतः गृहस्थ को सदैव यह प्रयत्न करना चाहिये कि वे अपने वैभव का सदुपयोग करें। वैभव की अस्थिरता और पात्र की दुर्लभता देखते हुए, वैयावृत्ति में मन को लगाना, सद्गृहस्थ का कर्तव्य है।

वैयावृत्ति के १६ गुण बताते हुए आ. शिवार्य ने लिखा है कि –

गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य।
संधाणं तवपूया अव्विच्छत्ती समाधी य।।
आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य।
वेज्जावच्चस्स गुणा, पभावणा कज्जपुण्णाणि।।

(*भगवती आराधना- ३२४, ३१५)

अर्थ : १-साधुनि के गुणन में परिणाम, २ श्रद्धान, ३-वात्सल्य, ४-भक्ति, ५ पात्रलाभ ६-संधान जो रत्नत्रयतैं जोड़, ७-तप, ८-पूजा, ९ धर्मतीर्थ की अव्युच्छित्ति, १०-समाधि, ११-तीर्थंकरनि की आज्ञा का धारना, १२-संयम की सहायता, १३-दान, १४-निर्विचिकित्सा, १५-भावना, १६-कार्यपूर्णता एते वैयावृत्य करने तैं गुणप्रकट होय हैं।।

वैयावृत्ति करने से धर्म प्रभावना होती है, संयमी की सुरक्षा होती है। अतः ग्रंथकार कहते हैं कि जो हर्षपूर्वक वैयावृत्ति करते हैं, वे मानों सुख के कारणभूत जैन धर्म का उध्दार ही कर रहे हो।

चैत्यालय बनाने का उपदेश

उत्तुङ्ग तोरणोपेतं चैत्यागारमघक्षयम् ।
कर्त्तव्यं श्रावकैः शक्त्यामरादिकमपि स्फुटम् ।। ३३.

अन्वयार्थ :

शक्त्या	शक्ति के अनुसार
उत्तुङ्ग	उन्नत
तोरण	तोरण से
उपेतम्	युक्त
अघक्षयम्	पाप नाशक
चैत्यागारम्	चैत्यालय
श्रावकैः	श्रावकों के द्वारा
कर्त्तव्यम्	बनवाया जाना चाहिये (और)
स्फुटम्	निश्चय से
अमरादिकम्	देव प्रतिमा
अपि	भी
कर्त्तव्यम्	बनानी चाहिये।

अर्थ : उन्नत तोरण से युक्त, पाप विनाशक चैत्यालय श्रावकों को बनाना चाहिये और जिन प्रतिमा भी शक्ति के अनुसार बनानी चाहिये।

भावार्थ : परमात्मा सदा सर्वदा हमारी अन्तरात्मा में वास करता है। दूध में घी होता है, तिल में तेल होता है ना? बस! उसी तरह वह हम में रहता है। आवश्यकता है उसको जगाने की, अन्तर्मन में दृष्टिपात करने की, स्वयं को पहचानने की। दूध से घी एकदम नहीं बनता। दूध में सर्वप्रथम जामन डाला जाता है, जिस से दही बनता है। उस दही को मथनी द्वारा मथकर मक्खन प्राप्त किया जाता है। मक्खन तप कर घी बनता है। अनेक साधनों का प्रयोग घी बनाता है। तदनुरूप आत्मा को परमात्मा बनाने का साधन या माध्यम है मन्दिर।

मन्दिर यानि चूना माटी से चुनी गई चार दीवारी और उस पर रखा गया कलश ही नहीं, अपितु जहाँ पर शान्ति को प्रश्रय मिलता है, विशुध्दता का सौरभ होता है, अध्यात्म और व्यवहार का बेजोड़ संगम होता है, उस निर्मल स्थान को कहते हैं, मन्दिर।

मानव दैनंदिन जीवनचर्या में रोटी कपड़ा और मकान हेतु परिश्रम में अर्थात अर्थोपार्जन में तल्लीन रहता है। उस विकल्प जाल को ध्वस्त करने के लिए मन्दिर ही एक समर्थ

कारण है। हे मानव! जिन भाव भंगिमा की मूरत तू बन बैठा है, वह तेरा अपना स्वरूप नहीं है। तू भी परमात्मा है। यह मूक सम्बोधन उसे मन्दिर में ही प्राप्त हो सकता है, अन्यत्र नहीं। परिणामों का संशोधन एवं संवर्धन मन्दिर नामा फैक्ट्री में ही हो सकता है।

अपनी सुप्त शक्तियों को जगाने का, जीवन में चेतना गान करने का, हेयोपादेय को समझने का तथा आत्म वैभव के साथ दया, धर्म, शान्तता, सहनशीलता एवं निस्वार्थता का बोध भी जिन मन्दिर से सम्प्राप्त होता है।

अतः ग्रंथकार का कथन है कि प्रत्येक श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार जिन मन्दिर बनाना चाहिये।

आगम प्रमाण से युक्त, सुन्दर, वीतरागी जिन प्रतिमा भी मन्दिर में स्थापित करानी चाहिये।

आचार्य उमास्वामी ने लिखा है कि–

बिम्बीदलसमे चैत्ये, यवमानं सुबिम्बकम् ।
यः करोति हि तस्यैव, मुक्तिर्भवति सन्निधिः।।

(उमास्वामी श्रावकाचार - ११५)

अर्थ : जो पुरुष बिम्बीदल (किन्दूरी के पत्र) के समान चैत्यालय बनवा कर के उस में यव (जौ) प्रमाण भी जिनबिम्ब को स्थापन कर उस का प्रतिदिन पूजन करता है, उस के ही मुक्ति समीपवर्तिनी होती है।

जिन मन्दिर बनाने का फल

येन श्रीमज्जिनेशस्य चैत्यागारमनिन्दितम् ।
कारितं तेन भव्येन स्थापितं जिन शासनम् ।। ३४.

अन्वयार्थ :

येन	जिसके द्वारा
अनिन्दितम्	निर्दोष
श्रीमत्	श्रीमान्
जिनेशस्य	जिनेन्द्र का
चैत्यागारम्	मन्दिर
कारितम्	बनवाया गया
तेन	उस
भव्येन	भव्य के द्वारा (मानों)
जिन-शासनम्	जैन शासन की
स्थापितम्	स्थापना की जा चुकी है।

अर्थ : जो जिनेन्द्र-देव का मन्दिर बनवाता है, वह भव्य जैन-शासन को स्थापित करता है।

भावार्थ : जिन मन्दिर अनेक पापों का नाशक है। विशाल जिनालय की उत्तुंग पताकायें जिन-शासन का गौरव दिग्‌दिगन्त में फैलाती है। जिनालय सम्यग्दर्शन का एक आयतन है। जो भव्य जीव स्वानुभव की किरणों के द्वारा आत्मानुभूति के उत्पादक निश्चय अध्यात्म में स्थिर नहीं रह पाता-उसके लिए जिनालय आत्म-स्थिरता का कारण है।

जिनभवन निर्माण का फल बताते हुए आ. पद्मनन्दि लिखते हैं कि -

बिम्बादलोन्नति यवोन्नतिमेव भक्त्या।
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च।।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता।
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ।।

(पदमनंदि पंचविंशतिका ७/२२)

अर्थ : जो मनुष्य बिम्बपत्र की ऊंचाईवाले जिनमन्दिर को और जौ की ऊंचाईवाली

जिन प्रतिमा को भक्ति से बनवाते हैं, उनके पुण्य को कहने के लिए सरस्वती भी समर्थ नहीं है, फिर दोनों को करानेवाले मनुष्य के पुण्य का तो कहना ही क्या?

अतः ग्रंथकार कहते हैं कि जिस भव्य ने जिनेन्द्र भगवान् का मन्दिर बनवाया है, उसने मानों जैन शासन की स्थापना की है।

विमर्श : वर्तमान में आचार्यों के इस तरह के **वाक्यों** को पढ़कर जैन समाज में मन्दिर बनवाने की होड़ सी लगी है किन्तु मात्र मन्दिर बनवाना ही अक्षय पुण्य का कारण नहीं है। मन्दिर बनाने के साथ साथ उस की सुरक्षा, देखभाल, उस की अर्चना, प्राचीन जिनालयों का जीर्णोध्दार भी आवश्यक है। प्राचीन मन्दिरों की सुरक्षा जैनत्व की सुरक्षा है।

नवदेवताओं में मन्दिर भी एक देवता है, अतएव उसका विधिवत् अर्चन व उसकी व्यवस्थित देखभाल निहायत जरूरी है।

मन्दिर में देने योग्य वस्तुएं

गौ-भूमि-स्वर्ण-कच्छादि दानं वसतयेऽर्हताम् ।
कर्त्तव्यं जीर्ण-चैत्यादि समुध्दरणमप्यदः ।। ३५.

अन्वयार्थः

अर्हताम्	अर्हन्त के
वसतये	वसतिका में
गौ	गाय
भूमि	भूमि
स्वर्ण	सुवर्ण
कच्छादि	वस्त्रादि का
दानम्	दान
कर्त्तव्यम्	करना चाहिये
अदः	वह
जीर्ण	जीर्ण
चैत्यादि	मन्दिरों का
समुध्दरणम्	उध्दार
अपि	भी
कर्त्तव्यम्	करें।

ज्ञातव्य है कि –
श्रावकाचार संग्रह में गौ की जगह गो तथा कर्त्तव्यं की जगह कर्त्तव्य छपा हुआ है।

अर्थ : जिन मन्दिर में गाय-भूमि-सुवर्ण-वस्त्रादि देने चाहिये तथा जीर्ण मन्दिरों का जीर्णोध्दार भी कराना चाहिये।

भावार्थ : मन्दिर में पंचामृताभिषेक हेतु दूध-दही और घी की आवश्यकता होती है। इनकी सुविधा के लिए मन्दिर में गाय देनी चाहिये। भगवान के श्री चरणों की अर्चना हेतु आवश्यक पुष्पों की व्यवस्था हेतु बाग लगाने के लिए भूमि दान करनी चाहिये। छत्र-चँवर-भामण्डल-सिंहासनादि के निर्माण हेतु मन्दिर में सुवर्ण-चांदी आदि द्रव्य देने चाहिये।

भगवान् की प्रतिमा को पोछने के लिए अथवा अचानक् अन्य गाँव से पधारे हुए श्रावक को अपने आवश्यक कर्मों की पूर्ति के लिए शुध्द वस्त्रों की आवश्यकता होती है-एतदर्थ मन्दिर में वस्त्र-दान करना चाहिये। आदि शब्द मन्दिर की आवश्यक जितनी भी वस्तुएं हैं, उनको सूचित करता है। अतः मन्दिर में जो कुछ आवश्यक वस्तुयें हैं, उनका दान श्रावक को करना चाहिये।

आज न जाने कितने प्राचीन जिनमन्दिर जर्जरित अवस्था में पड़े हुए हैं। उन का उध्दार करना, प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है। उन के संरक्षण से ही हमारी संस्कृति तथा इतिहास जीवित रहेगा।

एक जीर्ण मन्दिर का जीर्णोध्दार करने से उत्पन्न होनेवाले पुण्य के विषय में जैनाचार्यों का मार्मिक कथन मननीय है कि " एक मन्दिर का जीर्णोध्दार करने से अनेकों नये मन्दिर बनवाने का पुण्य लगता है "।

इतिहास की सुरक्षा के लिए, आयतनों का विनय कायम रखने के लिए जीर्णोध्दार ही उचित उपाय है।

पण्डितों का सम्मान

सिध्दान्ताचार-शास्त्रेषु वाच्यमानेषु भक्तितः ।
धनव्ययोऽव्ययो नृणां जायतेऽत्र महर्द्धये ।। ३६.

अन्वयार्थ :

सिध्दान्त शास्त्रेषु	सिध्दान्त शास्त्रों के
आचार शास्त्रेषु	आचार शास्त्रों के
वाच्यमानेषु	वाचकों को
भक्तितः	भक्ति पूर्वक
नृणाम्	मनुष्यों का
धनव्ययः	धनव्यय होना चाहिये, (वह)
अत्र	यहाँ
अव्ययः	अक्षय
महर्द्धये	महा ऋध्दियों को
जायते	उत्पन्न करता है।

अर्थ : सिध्दान्त और आचार शास्त्र के वाचक विद्वानों के लिए मनुष्यों का धनव्यय होना चाहिये। वह धनव्यय अक्षय महा-ऋध्दि को प्राप्त कराता है।

भावार्थ : निर्णायिक साक्ष्य के आधार पर अवलम्बित, सत्य प्ररूपक कोई मूल पाठ अथवा ग्रंथ सिध्दान्त कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र, धवल, महाधवलादि ग्रंथ सिध्दान्त शास्त्र हैं। द्वादश अंग सिध्दान्त हैं। (धवला ८/१०)

आ. वीरसेन सिध्दान्त के एकार्थक शब्दों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि

आगमो सिध्दंतो पवयणमिदि एयट्ठो (धवला १/२०)

अर्थ : आगम, सिध्दान्त और प्रवचन ये सब एकार्थक हैं।

सदाचार के प्रतिष्ठापक शास्त्रों को आचार ग्रंथ कहते हैं। मुनि और श्रावक के भेद से आचरण कर्त्ता दो प्रकार के हैं। अतः मूलाचारादि समस्त यत्याचार ग्रंथ तथा रत्नकरण्ड श्रावकाचारादि सम्पूर्ण श्रावकाचार आचार शास्त्र हैं। इन दोनों शास्त्रों का वाचक यदि गृहस्थ हैं तो उसे अपने आश्रम के योग्य अनेक कर्त्तव्य पालनीय होते हैं, जिन में धन की आवश्यकता होती है। यदि उसके आवश्यकता की पूर्ति नहीं हुई तो वह अर्थार्थी होकर शास्त्र-सेवादि कार्यों से विमुख हो जायेगा, इस से ग्रन्थों की अपार हानि होती है। आ. सोमदेव लिखते हैं कि -

सौमनस्यं सदाऽचर्यं व्याख्यातृषु पठत्सुध।
आवासपुस्तकाहारसौकर्यादि विधानकैः ।। (यशस्तिलक चम्पू)

अर्थ : जो जिनशास्त्रों का अध्ययन करते हैं या उनको पढ़ते हैं, उन्हें आवास-पुस्तक और भोजन आदि को प्रदान कर के गृहस्थ को सदा अपनी सदाशयता का परिचय देना चाहिये।

इसलिए ग्रंथकार का कथन है कि सिध्दान्त व आचार शास्त्रों के वाचक विद्वानों के लिए मनुष्य को धनव्यय करना चाहिये। यह धनव्यय विद्वानों को अर्थचिन्ता से मुक्ति दिलायेगा, यह मुक्ति उसे शास्त्राध्ययन में अधिक रुचि व समय प्रदान करेगा, जिस से ग्रन्थों की सुरक्षा होगी- अतएव यह धनव्यय अक्षय ऋध्दि प्रदायक है।

दान की प्रेरणा

दयादत्त्यादिभिर्नूनं धर्मसन्तानमुध्दरेत् ।
दीनानाथानपि प्राप्तान् विमुखान्नैव कल्पयेत् ।। ३७.

अन्वयार्थ :

नूनम्	निश्चय से
दयादत्त्यादिभिः	दयादत्ति आदि से
धर्म्म-सन्तानम्	धर्म सन्तति की
उध्दरेत्	उन्नति करें
दीन	दीन
अनाथान्	अनाथों को
अपि	भी
प्राप्तान्	प्राप्त करने पर
विमुखान्	विमुख
न - एव	नहीं
कल्पयेत्	करें।

ज्ञातव्य है कि -
श्रावकाचार संग्रह में दयादत्त्यदिभिर्नूनं की जगह दया दत्त्यादि छपा हुआ है।

अर्थ : दयादान आदि से धार्मिकों की उन्नति करें तथा दीन व अनाथों को भी दान देना चाहिये।

भावार्थ : आगम में दान के चार भेद कहे गये हैं।

पात्रदत्ति : सद्भक्ति से युक्त हो कर पात्रों को चतुर्विध दान देना, पात्र दान है।

आ. जिनसेन ने लिखा है कि -

महातपोधना यार्चा प्रतिग्रह पुरःसरम् ।
प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ।।

(महापुराण ३८/३७)

अर्थ : महान् तपस्वी साधुजनों के लिए प्रतिग्रह आदि नवधा भक्ति पूर्वक आहार, औषधि आदि का देना पात्र दत्ति कही जाती है।

पात्र के ३ भेद हैं - उत्तम - मध्यम और जघन्य। उनका वर्णन करते हुए

आ. अमृतचन्द्र ने लिखा है कि –

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगे मोक्षकारण गुणानाम् ।
अविरत सम्यग्दष्टि विरताविरतश्च सकल विरतश्च ।।

(पुरुषार्थ सिध्द्युपाय - १७१)

अर्थ : मोक्ष के कारण स्वरुप गुण सम्यक् रत्नत्रय का जिन में संयोग हो, ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थानवर्ती, विरताविरत (देशविरत पंचमगुणस्थानवर्ती)और सकलविरत छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज ये तीन प्रकार के पात्र कहे गये हैं।

समदत्ति : आ. जिनसेन लिखते हैं कि –

समानायात्मनाऽन्यस्मै, क्रियामन्त्र व्रतादिभिः ।
निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यति सर्जनम् ।।
समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते ।
समान प्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रृध्दयाऽन्विता।।

(महापुराण ३८/३८-३९)

अर्थ : क्रिया, मंत्र और व्रत आदि से जो अपने समान हैं, ऐसे अन्य साधर्मी बन्धु के लिए और संसार तारक उत्तम गृहस्थ के लिए भूमि, सुवर्ण आदि देना समदत्ति है। तथा मध्यमपात्र में समान सम्मान की भावना के साथ श्रध्दा से युक्त जो दान दिया जाता है, वह भी समानदत्ति है।

दयादत्ति : पं. मेघावी लिखते हैं कि –

सर्वेभ्यो जीवराशिभ्य : स्वशक्त्या करणैस्त्रिभिः ।
दीयतेऽभयदानं यद्दयादानं तदुच्यते ।।

(धर्मसंग्रह श्रावकाचार ६/१९०)

अर्थ : सम्पूर्ण जीवमात्र के लिए कृत, करित तथा अनुमोदन से अपनी शक्ति के अनुसार अभयदान देने को बुध्दिमान् लोग दयादान (दयादत्ति) कहते हैं।

अन्वयदत्ति : इसे सकल दत्ति भी कहते हैं। पं. मेघावी ने लिखा है कि –

समर्थाय स्वपुत्राय तदभावेऽन्यजाय वा।
यदेतद्दीयते वस्तु स्वीयं तत्सकलं मतम् ।।

(धर्मसंग्रह श्रावकाचार ६/१९६)

अर्थ : सब तरह समर्थ अपने पुत्र के लिए अथवा पुत्र के न होने पर दूसरे से उत्पन्न होने वाले (दत्तक) पुत्र के लिए अपनी धनधान्यादि से सम्पूर्ण वस्तु का जो देना है, उसे सकल दत्ति कहते हैं।

इस तरह चारों दानों के द्वारा जैन धर्म के आराधकों की उन्नति करें, तथा दीन और अनाथों को करुणा दान देना चाहिये।

गृहीत व्रतों- को परिपालन करने की प्रेरणा

व्रत शीलानि यान्येव रक्षणीयानि सर्वदा।
एकैकादेव जायन्ते देहिनां दिव्यसिध्दयः।।३८.

अन्वयार्थ :

यानि	जो (गृहीत)
व्रत	व्रत
शीलानि	शील हैं (उनका)
सर्वदा	सदा
एव	ही
रक्षणीयानि	रक्षण करना चाहिये
एक-एकात्	एक-एक से
देहिनाम्	संसारियों को
दिव्य	दिव्य
सिध्द्यः	सिध्दियाँ
जायन्ते	प्राप्त होती है।

> **ज्ञातव्य है कि –**
> श्रावकाचार संग्रह में एकैकादेव की जगह एकैनैकेन छपा हुआ है।

अर्थ : जो व्रत और शील ग्रहण किये गये हैं, उन का रक्षण करना चाहिये क्योंकि वे व्रतादि एक-एक भी जीव को सिध्दियों प्रदायक होते हैं।

भावार्थ : व्रत को परिभाषित करते हुए उमास्वामी महाराज लिखते हैं कि –

हिंसानृतस्तेयाब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् (तत्त्वार्थ-सूत्र ७/१)

अर्थ : हिंसा नृत अस्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरक्त होना, व्रत है।

ये अहिंसादि के भेदों से ५ प्रकार के हैं।

शील की परिभाषा करते हुए आ. पूज्यपाद ने लिखा है कि –

व्रतपरिरक्षणार्थं शीलमिति दिग्विरत्यादीनीह शीलग्रहणेन गृह्यन्ते (सर्वार्थसिध्दि ७/२४)

अर्थ : व्रत की रक्षा के लिए शील है, इसलिए यहाँ शील पद के ग्रहण से दिग्विरत्यादि ग्रहण करना चाहिये। शील शब्द अनेकार्थों में प्रयुक्त हैं। यथा – स्वभाव, अच्छी प्रकृति, सद्गुण, नैतिकता, प्रवृत्ति, रुचि, ब्रह्मचर्य आदि. जो प्रवृत्ति व्रतों की रक्षा में कारण है, वह यहाँ शील शब्द से अभिसंज्ञित है। व्रतों की सुरक्षा बिना शील के संभव नहीं है। अतः आचार्य अमृतचन्द्र शीलव्रत पालन की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं कि –

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि।। (पुरुषार्थ सिध्दयुपाय - १३६)

अर्थ : जैसे परिधि अर्थात् परकोटा नगर की रक्षा करता है, उसी प्रकार शील व्रतों की रक्षा करते हैं। अतः ग्रहण किये गये अहिंसादि व्रतों के परिपालन के लिए गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप सात शीलों को भी पालन करना चाहिए।।

तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सप्त शीलव्रत हैं।

जो व्रत और शील ग्रहण किये गये हैं, उनका यथार्थ परिपालन प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये। जो एक भी व्रत का निरतिचार पालन करता है, वह दिव्य विभूति को प्राप्त करता है. फिर अनेक व्रतों का फल कहने की क्षमता इस लेखनी में कहाँ? या तो इसे सर्वज्ञ जाने या भुक्तभोगी।

अहिंसा व्रत का फल

मनोवचनकायैर्यो न जिंघासति देहिनः।
स स्याद् गजादि-युध्देषु जयलक्ष्मी-निकेतनम् ।। ३९

अन्वयार्थ :

यः	जो
मनः	मन
वचन	वचन
कायैः	काय से
देहिनः	जीवों के
न जिघांसति	घात की इच्छा नहीं करता,
स	वह
गजादि	गजादि के
युध्देषु	युध्द में
जयलक्ष्मी	जयलक्ष्मी का
निकेतनम्	घर
स्याद्	होता है।

अर्थ : जो मन-वचन-काय से जीवों को नहीं मारता है, वह गजादि के भयंकर युध्द में भी विजय प्राप्त करता है।

भावार्थ : यहाँ अहिंसा व्रत का महत्त्व बतलाया है।

अहिंसा समस्त व्रतों की माता है, सारे व्रत अहिंसा की आधारभूमि पर पलते हैं। अहिंसा के बिना शेष व्रत नींव के बिना महल के समान हैं।

आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि –

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् । (स्वयंभूस्तोत्र - ११९)

प्राणियों की अहिंसा इस जगत में परं ब्रह्म रूप से प्रसिध्द है।

अहिंसा मानव को विश्व मैत्री और विश्व बन्धुता का पाठ पढ़ाती है। अहिंसा, जीवन का ऐसा सरस संगीत है कि उसकी मधुर-मधुर लहरियाँ समस्त सृष्टि को समरसी और स्वरसी भाव में मग्न कर देती है। अहिंसा रूपी सरिता जिस दिशा में बहती चली जाती है, उस ओर वह सर्वत्र पवित्रता को सरसब्ज बनाती चली जाती है। उस सरिता के पावन जल से कषाय-कल्मष और विषय विकार स्वयमेव धुल जाते हैं।

अहिंसा का यह महान् सन्देश आज विश्व शान्ति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है, इस की अमोध शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक महा शक्तियाँ अवरुध्द हो जाती है। भगवान् महावीर के शब्दों में अहिंसा भगवती शक्ति है, उस की विमल धाराएं प्रान्तवाद, जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद या पंथवाद की चट्टानों को चकनाचूर करते हुए अग्रगति करती है, यह किसी की व्यक्तिगत धरोहर नहीं है, अपितु विश्व का सर्वमान्य सिध्दान्त है, मानवता का धवल पृष्ठ है। शब्दरचना एवं व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से अहिंसा निषेधात्मक शब्द है, इसका कारण है कि उस का प्रथम पक्ष निषेधमूलक है, हिंसा के अभाव की सूचना इस के द्वारा दी गई है। वस्तुतः वह नकार पर आधृत नहीं है। हिंसा, शोषण एवं कष्ट के द्वारा झुलसे हुए जीवों की जो रक्षा करें, वह अहिंसा है। यह अहिंसा की विधेयात्मक परिभाषा है। समता, सर्वभूत दया, संयम, प्रेम आदि समस्त पवित्र आचरण अहिंसा में गर्भित हो जाते हैं।

अहिंसा ह्रदय परिवर्तन करने में प्रशस्त व सक्षम माध्यम है। वह निर्वाण नहीं, निर्माण करता है, वह मारता नहीं, सुधारता है, इसलिए आज विश्व के समस्त तत्त्ववेत्ता अहिंसा को परम धर्म मानते हैं।

जो मनुष्य मन-वचन-काय से और कृत-करित अनुमोदना से जीवों का घात नहीं करता है, वह सर्वत्र विजय श्री का वरण करता है।

सत्य व्रत का फल

सु-स्वरः स्पष्ट वागिष्टमतः व्याख्यान-दक्षिणः।
क्षणार्द्ध निर्जितागतिरसत्य विरतेर्भवेत् ।।४०

अन्वयार्थ :

असत्यविरतेः	असत्य का त्यागी
सु-स्वरः	सु-स्वर
स्पष्टवाक्	स्पष्टवादी
इष्टमत	अभीष्ट मत के
व्याख्यान	व्याख्यान (में)
दक्षिणः	दक्ष
अपि	भी (होता है)
च	और
क्षणार्द्ध	अर्द्ध क्षण में ही
निर्जितागतिः	विपक्षियों को जीतनेवाला
भवेत्	होता है।

अर्थ : असत्य का त्यागी सुस्वर, स्पष्टवादी, इष्टमत के व्याख्यान में दक्ष तथा क्षणार्द्ध में ही विपक्षियों पर विजय प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ : यहाँ असत्य-विरति का महत्त्व स्पष्ट किया जा रहा है।

आ. शुभचन्द्र लिखते हैं कि –

एकतः सकलं पापं असत्योत्थं ततोऽन्यतः।
साम्यमेव वदन्त्यार्यास्तुलायां धृतयोस्तयोः।।

(ज्ञानार्णव ९/३३)

अर्थ : आर्यजनों ने तराजू के एक पलडे में सम्पूर्ण पापों को व दूसरे में असत्य से उत्पन्न हुए पापों को रखकर तौला। वे कहते हैं कि दोनों समान हैं।

असत्य का लक्षण करते हुए आ. अमृतचन्द्र लिखते हैं कि –

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः।।

(पुरुषार्थ सिध्द्युपाय-९१)

अर्थ : जो कुछ भी प्रमाद के योग से असत्य कथन किया जाता है, वह असत्य जानना चाहिए। उस असत्य के चार भेद हैं।

उस असत्य से विरत होना ही सत्य है।

सत्य का महत्त्व बताते हुए सोमप्रभाचार्य लिखते हैं कि -

विश्वासायतन विपत्ति दलनं देवैः कृताराधनम् ।
मुक्तेः पथ्यदनं जलाग्निशमनं व्याघ्रोरगस्तम्भनम् ।
श्रेयः संववनं समृध्दिजननं सौजन्य संजीवनम् ,
कीर्तेः केलिवनं प्रभावभवनं, सत्यं वचः पावनम् ।।

(सूक्ति मुक्तावली - २९)

अर्थ : सत्यवचन विश्वास का घर है, विपत्ति को दूर करनेवाला है, देवों के द्वारा जिसका आराधन किया गया, मुक्ति के लिए पाथेय समान है, जल और अग्नि को शान्त करनेवाला है अर्थात् सत्य के प्रताप से जल तथा अग्नि का भय या महान् संकट भी शान्त हो जाता है, व्याघ्र (वाघ) व सर्द को स्तंभन करने वाला है, कल्याण का वशीकरण है अर्थात् कल्याण का गृह है, समृध्दि को उत्पन्न करने वाला है, सज्जनता का जीवन है, कीर्ति का क्रीडा वन है, प्रभाव का मन्दिर है, ऐसा सत्यवचन निरन्तर बोलना योग्य है।

ग्रंथकार ने लिखा है कि असत्य पाप का त्यागी सुन्दर स्वरवाला, स्पष्ट बोलनेवाला, अपने मत को व्यवस्थित रूप से स्पष्ट करनेवाला होता है। वह क्षणार्ध्द में ही विपक्षियों को वाद-विवाद में जीत लेता है।

अचौर्य व्रत का फल

चतुःसागर - सीमाया भुवः स्यादधिपो नरः ।
परद्रव्य परावृतः सुव्रत्योपार्जित स्वकः ।। ४१.

अन्वयार्थ :

नरः	मनुष्य
परद्रव्य	पर-द्रव्य से
परावृतः	परावृत्त हो कर
स्वकः	अपने द्वारा
सु-व्रत्या	अच्छी वृत्ति से (अर्थ)
उपार्जित :	उपार्जित (करनेवाला होता है)
चतुःसागर	चार सागरों की
सीमाया :	सीमा तक की
भुवः	भूमि का
अधिपः	स्वामी
स्यात्	होता है।

अर्थ : जो मनुष्य परद्रव्य से परावृत्त हो कर अच्छी वृत्ति से अपने द्वारा अर्थ उपार्जित करने वाला होता है, वह चार सागरों तक की भूमि का स्वामी होता है।

भावार्थ : आचार्य प्रवर उमास्वामी महाराज ने लिखा है कि - **अदत्तादानं स्तेयम्** (तत्त्वार्थसूत्र७/१५) अदत्त क्या है? यह बताते हुए आ. भास्करनन्दि लिखते हैं कि - **दीयते स्म दत्तं-परेण समर्पितमित्यर्थः। न दत्तमदत्तम्** (तत्त्वार्थवृत्ति सुखबोध टीका-७/१५) पर के द्वारा जो वस्तु दी गई हो, वह दत्त है। जो दत्त नहीं है, वह अदत्त है। आदान यानि हस्तादिक के द्वारा ग्रहण करना। अदत्त का ग्रहण करना चोरी है।

विना दी हुई वस्तु वह चाहे छोटी हो या बड़ी, अल्पमूल्यवान् हो या अतिमूल्यवान् अपने अधिकार में ले लेना, चौर्यकर्म है। ग्रहण करना तो दूर ही रहा, अपितु ग्रहण करने रूप भावों का उत्पन्न होना ही, चोरी है। यह अभिप्राय आ. पूज्यपाद स्वामी को इष्ट है। वे कहते हैं कि -

यत्र संक्लेश परिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयं भवति। बाह्यवस्तुनो ग्रहणे चाग्रहणे च।

(सर्वार्थसिध्दि ७/१५)

अर्थात : बाह्यवस्तु का ग्रहण हो अथवा न हो विना दी हुई वस्तु को ग्रहण करते समय संक्लेश भाव अवश्य होता है। जहाँ संक्लेश परिणाम होते हैं, वहाँ चोरी अवश्यमेव है।

चोरी के लिए आगम में करीब - करीब ३० समानार्थक शब्द प्राप्त हुए हैं। यथा. १

चोरिका २ परहृत ३ अदत्त ४ क्रूरकृत्य ५ परलाभ ६ असंयम ७ परधनगृध्दि ८ लौल्य तस्करत्व ९ अपहार १० हस्तलघुत्व ११ पापकर्मकरण १२ स्तैन्य १३ हरण विप्रणाश १४ आदान १५ धनलुम्पना १६ अप्रत्यय १७ अवपीडन १८ आक्षेप १९ क्षेप २० विक्षेप २१ कूटता २२ कांक्षा २३ कुलमषी २४ लालपण प्रार्थना २५ व्यसन २६ इच्छा २७ मूर्च्छा २८ तृष्णागृद्धि २९ निकृतिकर्म ३० अपरोक्ष। इस के इतने ही नाम पर्याप्त नहीं है। क्रिया के अनुसार इस के और भी नाम हो सकते हैं।

इस के दुष्फल को बताते हुए आ. शिवकोटि लिखते हैं कि

परलोगम्मिय चोरो करेदि णिरयम्मि अप्पणो वसदिं।
तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्थ सुचिरंपि।।

(भगवती आराधना - ८६५)

अर्थ : चोर मर कर नरक में वास करता है और वहाँ चिरकाल तक तीव्र कष्ट भोगता है।

आ. शुभचन्द्र लिखते हैं कि -

हृदियस्य पदं धत्ते परवित्ता मिषस्पृहा।
करोति किं न किं तस्य कण्ठलग्नेव सर्पिणी।।

(ज्ञानार्णव - १०/७)

अर्थ : जिस पुरुष के हृदय में पर धन रूप मांस भक्षण की इच्छा स्थान पा लेती है, वह उस के कण्ठ में लगी हुई सर्पिणी के समान है और वह क्या-क्या नहीं करेगी? अर्थात् सब ही अनिष्ट करती है।

चौर्य कर्म अनार्य कर्म है। इस में लोभ की बाहुल्यता होती है परन्तु कपटादि समस्त दोष इस कर्म के सहारे अपना जीवन व्यापन करते हैं। यह दुर्गति के लिए भेजा गया आमन्त्रण पत्र है। यह अपकीर्ति का भण्डार है। प्रेमीजनों में भी भेद उत्पन्न करने वाला यह चौर्य कर्म परस्पर में अप्रीति का जनक है। पाप पंक में उन्मज्जन-निमज्जन करने में प्रवृत्त करानेवाला यह स्तेय कर्म चिरकाल पर्यन्त संसार के चतुर्गति रूप भ्रमण का प्रमुख कारण है। उभयलोक में आत्मा का अहित करने में निपुण यह कर्म समस्त पुरुषार्थों का विनाशक है। इसीलिए भव्य जीवों को स्व-धन में संतोष रखते हुए परद्रव्य से अपने चित्त को हटाना चाहिये। इस से वह संसार की समस्त विभूतियों को प्राप्त करता हुआ अन्ततोगत्वा मोक्षपद को प्राप्त करता है।

ब्रह्मचर्य व्रत का फल

मातृ-पुत्री-भगिन्यादि संकल्पं परयोषिति
तन्वानः कामदेवः स्याद् मोक्षस्यापि च भाजनम् ।। ४२.

अन्वयार्थ :

परयोषिति	पर स्त्री में
मातृ	माता
पुत्री	पुत्री
भगिन्यादि	बहन आदि का
संकल्पम्	संकल्प
तन्वानः	करना चाहिये (वह)
कामदेवः	कामदेव
स्यात्	होता है
च	और
मोक्षस्य	मोक्ष का
अपि	भी
भाजनम्	पात्र
स्यात्	होता है।

अर्थ : परस्त्री को माता, पुत्री और भगिनी आदि के समान मानना चाहिये। जो ऐसा संकल्प करता है, वह कामदेव होता है तथा वह मोक्ष का भी पात्र बन जाता है।

भावार्थ : ब्रह्मचर्य शब्द ब्रह्म और चर्य इन दो शब्दों का सुमेल है। ब्रह्म शब्द की निष्पत्ति बृंह् धातु से हुई है। ब्रह्म के अनेक अर्थों में परमात्मा, आत्मा, मोक्ष आदि प्रसिध्द हैं। **चरगतिभक्षणयोः** धातु से चर्य शब्द की निर्मिति हुई है। ब्रह्म के लिए जो चर्या, वह ब्रह्मचर्य है।

आत्मा, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा में जो चर्या करता है, वह निश्चय ब्रह्मचर्य है। इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय विषयों व विकार भावों से दूर हटना, व्यवहार ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य व्रत के परिपालक दो तरह के साधक होते हैं। महाव्रती और अणुव्रती। महाव्रती तो स्त्री मात्र का त्याग कर के आत्म रमण का प्रयत्न करते हैं। अणुव्रती पर स्त्री सेवन का पूर्णतया त्याग करता है व स्व स्त्री में भी अत्यधिक राग नहीं करता। ब्रह्मचर्य अणव्रत को इसी कारण दो नाम दिये गये हैं १ स्व-दार सन्तोषव्रत २ परस्त्री त्याग व्रत।

योषिता यानि स्त्री। वह स्व और पर के भेद से दो प्रकार की है। जिसके साथ अग्नि की साक्षी में सात फेरे खाये हैं अर्थात् धर्मानुकूल विवाह किया है, वह स्व-स्त्री है। ब्रह्मचर्याणुव्रती शाश्वत पर्वों के दिनों में अर्थात् अष्टाह्निका, पर्युषण, अष्टमी, चतुर्दशी इत्यादि दिनों में स्व-स्त्री के साथ भी कामक्रीडा नहीं करता है।

स्व स्त्री के अलावा जितनी भी स्त्रियाँ हैं, वे सब पर हैं। उन के भी दो भेद हैं। जो दूसरे के द्वारा विवाहित है, वह परिगृहीता स्त्री है तथा जो अनाथ, स्व-च्छंद अथवा अविवाहित है, वह अपरिगृहीता है। पर-स्त्री का पूर्ण त्याग करना आध्यात्मिक दृष्टि से उचित है।

कवि लिखता है –

पर स्त्री पैनी छुरी तीन ठौर से खाय।
धन हरे यौवन हरे, मरे नरक ले जाय।।

आ. अमृतचन्द्र जी का उपदेश है कि –

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शन्कुवन्ति न हि मोहात् ।
निःशेष शेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ।।

(पुरूषार्थ सिध्दयुपाय- ११०)

अर्थ : जो जीव मोह के उदय से अपनी स्त्री मात्र को छोड़ने के लिए समर्थ नहीं है, उन्हें भी शेष समस्त स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिए।।

कामदेव बहुत बलिष्ट है। उसने समस्त जगत् को आक्रान्त कर रखा है। अतः तप-त्याग के शस्त्रों के द्वारा उसपर पूर्ण विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, यदि उस में स्वयं को असमर्थ देखें, तो विधिपूर्वक स्व-दार सन्तोषव्रत गुरु चरणों में ग्रहण करना, सदगृहस्थ का कर्तव्य है।

जो पर स्त्री का त्याग कर देता है व अध्यात्म पथ की ओर बढ़ने हेतु सतत प्रयत्न करता है, ऐसा भव्य जीव लौकिक एवं परलौकिक सुख पाता है।

वीर्य ओज है। उसकी सुरक्षा शरीर की शान्ति, कान्ति और स्फूर्ति को कायम रखती है। मन को स्थिर करने में मदत करती है, बुध्दि का वर्धन करती है। यह सब लौकिक सुखों की प्राप्ति का स्थान है।

ब्रह्मचर्य से संयम निर्दोष पलता है, आत्मसाधना निर्विघ्न होती है, जिससे कर्मों का नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है, यह पारलौकिक सुख है।

यदि गृहस्थ पर-स्त्री को माता-पुत्री अथवा भगिनी आदि रूप मानता है, तो कामदेव होता है और शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है।

पुनः उसी बात को दृढ करते हैं

याः याः समग्रशोभाद्या सम्पदो जगतीतले।
तास्ताः सर्वा अभिप्रायः परकान्ता विवर्ज्जनात् ।। ४३.

अन्वयार्थ

याः	जो
याः	जो
जगतीतले	भू-तल पर
समग्र	सम्पूर्ण
सम्पदः	सम्पदाएं
शोभाद्या	**शोभा आदि है**
ताः	वह
ताः	वह
सर्वा	**सब**
अपि	भी
परकान्ता	पर स्त्री के
विवर्ज्जनात्	त्याग करने से
स्यात्	प्राप्त होती है।

ज्ञातव्य है कि
श्रावकाचार संग्रह में तास्ताः सर्वा के स्थानपर तास्तत्सर्वा प्रकाशित किया गया है।

अर्थ : इस जगत् में जितनी सम्पदाएं हैं - शोभा हैं, वह सब परस्त्री सेवन के त्याग से प्राप्त होती हैं।

भावार्थ : अनन्तर-पूर्व श्लोक में विधिमुखेन ब्रह्मचर्य व्रत का फल बताया गया था, यहाँ उसी के फल को बताया जा रहा है।

श्री पद्मनन्दि भट्टारक लिखते हैं कि :-

शोचिः केश शिखेव दाह जननी, नीचप्रियेवापगा,।
प्रोद्यध्दूमतती व कालिमचिता शम्पेव भीतिप्रदा।।
सन्ध्येव क्षणरागिणी हृतजगा प्राणा भुजङ्गीव सो।
कार्या कार्य विचार चारुमतिभिस्त्याज्या परस्त्री सदा।।

(श्रावकाचार सारोध्दार ३/२२७)

अर्थ : कार्य-अकार्य का विचार करनेवाले सुन्दर बुध्दिशाली आर्य पुरुषों द्वारा ऐसी परस्त्री सदा त्यागने योग्य है, जो कि शोकरूप केश शिखावाली, अग्नि के समान दाह को उत्पन्न करती है, नदी के समान नीच प्रिय है, उत्तरोत्तर उठती हुई धूमपंक्ति के समान कालिमा से व्याप्त है, बिजली की गर्जना के समान भय को देने वाली है, संध्या के समान कुछ क्षणों की लालिमा वाली है और सर्पिणी के समान जगत् के प्राण हरण करने वाली है।

पद्मनन्दि जी का कथन है कि जिस प्रकार बर्फ से व्याप्त देश में कमलों की उत्पत्ति संभव नहीं है, उसी प्रकार परस्त्री में रमण करनेवाले पुरुष के मन में धर्म नहीं टिकता है।

(श्रावकाचार सारोध्दार - २२२)

जैसे सच्छिद्र हस्तपुट में जल नहीं रहता उसी प्रकार पर-स्त्री सेवी मनुष्य के मन में वैराग्य नहीं रहता। जैसे वानर स्थिर रह नहीं सकता, उस में भी उसे बिच्छू काट जाये तो उस की चंचलता का क्या कहना? उसी प्रकार कामी पुरुष को मानसिक स्थिरता प्राप्त नहीं होती, उस में भी उस के मन में पर स्त्री के प्रति राग उत्पन्न हो जाता है, उस के विषय में क्या कहना ?

बुध्दिमान् स्वाभिमानी पुरुष जिस प्रकार तीव्र भूख से व्याकुल होता हुआ भी किसी की झूठन को नहीं खाता, उसी प्रकार मोक्षाभिलाषी भव्य काम वासना से व्याकुल भी हो जाय तो भी परस्त्री सेवन की वांछा नहीं करता।

जो पर-स्त्री के सेवन से सुख चाहता है, मानों वह खुजली के द्वारा शरीर को सुख पहुँचाना चाहता है, खारा पानी पीकर प्यास बुझाना चाहता है, पत्थर पर बीज बोकर वट वृक्ष खिलने का स्वप्न देख रहा है, अथवा महा-भयंकर विषधरों के मध्य में शयन कर निद्रा को दूर करने का प्रयत्न कर रहा है।

वर्तमान के चिकित्सक भी कह रहे हैं कि पर-स्त्री सेवन अथवा वेश्या सेवन से एड्स जैसा भयंकर रोग होता है, जिस का बचाव ही उपचार है अर्थात् जो ला-इलाज है। इसके अलावा वे कहते हैं कि मनुष्य के शरीर में जो बल है, वह यह सम्भोग नष्ट कर देता है जिस से शक्ति हीनता की समस्या उपस्थित होती है।

नीतिशास्त्र का क्षेत्र मनुष्य के व्यवहार एवं चारित्र का प्रकाशक है। नीति शास्त्र कहता है कि पर-स्त्री के सेवन से शक्ति विनाश, धन-नाश, परिवार में कलह तथा लोक में निन्दा की प्राप्ति होती है। परस्त्री सेवन के समय कोई देख न लें, यह भी भय बना रहता है जो रतिक्रीड़ा में आनन्द नहीं लेने देता। किसी के द्वारा देख लेने पर राजदण्ड की प्राप्ति होती है।

इससे विपरीत स्व-दार सन्तोषव्रत मनुष्य को सर्वतोमुखेन सुखी व आध्यात्मिक पथ का पथिक बनाता है। अतः ग्रंथकार कहते हैं कि भूतल पर जितनी भी सम्पदाएं हैं, उनकी प्राप्ति पर-स्त्री के त्याग करने से होती है।

किमधिकम् ? बुध्दिमान् लोग लोक-व्यवहार में परदारा सेवन से प्राप्त होनेवाले कष्ट देखते ही हैं, उन्हें देखकर वे पीड़ा दायक तथा संसार वर्धक कार्य का अवश्य ही त्याग करेंगे, इस में क्या संशय?

अपरिग्रह व्रत का फल

अतिकांक्षा हता येन ततस्तेन भवस्थितिः।
ह्रसिता निश्चितावस्य कैवल्य सुखसंगतिः।। ४४.

अन्वयार्थ :

येन	जिसके द्वारा
अतिकांक्षा	अत्यन्त इच्छा
हता	नष्ट की गई
ततः	वहाँ से
तेन	उस के द्वारा
भवस्थितिः	भवस्थिति
ह्रसिता	कम की गई
अस्य	ऐसे जीव को
निश्चितो	निश्चित्
कैवल्य	केवल ज्ञान और
सुखसंगतिः	सुखादिक की संगति (प्राप्त होती है)

ज्ञातव्य है कि
श्रावकाचार संग्रह में निश्चितावस्य के स्थान पर निश्चिलावस्य प्रकाशित हुआ है।

अर्थ : जिसने आशा का नाश किया है, वह भवस्थिति को कम करता है तथा अवश्य ही केवलज्ञान व सुखादि की संगति को प्राप्त करता है।

भावार्थ : परितः गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रहः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मा को सर्वतोमुखेन जकड़ लेवें, वह परिग्रह है। आचार्य उमास्वामी लिखते हैं - **मूर्च्छा परिग्रहः** (तत्त्वार्थसूत्र ७/१७) मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं। मूर्च्छा क्या है? आचार्य अकलंक देव लिखते हैं कि- **बाह्याभ्यन्तरोपाधिसंरक्षणादि व्याप्रतिमूर्च्छा।** (राजवार्तिक ७/१७/१) बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के रक्षण आदि के व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं।

बाह्य परिग्रह में स्त्री पुत्र परिजनादि चेतन परिग्रह हैं तथा मणि मुक्ता पुष्प वाटिका आदि अचेतन परिग्रह हैं। आगम शास्त्र में इस के संग्रह नय से दश भेद किये हैं। क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य-भाण्ड। आभ्यन्तर परिग्रह १४ हैं। बृहत् प्रतिक्रमण में लिखा है कि-

मिच्छत्त वेय-राया-तहेव हस्साविया य छद्दोस्सा।
चत्तारि तह कासाया, चउदस अब्भंतरं गंथा।।

अर्थ : मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्यादि षट् नोकषाय, चार कषाय ये १४ आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

(यह गाथा भगवती आराधना में भी पायी जाती है- देखो १११२)

परिग्रह सम्पूर्ण विभावों का मूल है। परिग्रह के संग्रहार्थ मनुष्य अनेक प्रकार के आरंभ

जनक कार्य करता है, जिससे षट्कायिक जीवों का घात होता है। पर द्रव्य को ग्रहण करने के लिए झूठ भी बोलता है, अधिक संग्रह की इच्छा से मिलावट करना, कम तौलना आदि चौर्यकर्म भी करता है।

दूसरे द्वारा अपने धन का हरण होने पर परिग्रही क्रोध करता है, मेरे पास इतना वैभव है, यह भाव भी परिग्रही को होता है, धन को अनैतिक रूप से प्राप्त करने के लिए वह अनेक प्रकार का कपट करता है। जैसे-जैसे परिग्रह बढ़ता जाता है, वह उसे और अधिकाधिक चाहता है।

धनवान् निर्धन का उपहास करता है, यह हास्य है। अपने द्रव्य के प्रति उसे अनुराग होता है, यह रति है। अपने धन का नाश होते देख, उसे अरति होती है। दूसरा मेरा परिग्रह हरण न कर लेवें, यह भय उसे सतत सताता है, धन का हरण होने पर परिग्रही जीव शोक करता है, परिग्रह में कमी आने पर वह जुगुप्सा करने लगता है।

परिग्रही पुरुष अपने परिग्रह को विकसित करने के लिए वह सतत प्रयत्न करता है। इस में वह कलह करता है, परनिन्दा करता है, चुगली करता है, अपमान को सहन करता है, दूसरों पर सन्देह करता है। इस तरह परिग्रह सम्पूर्ण दोषों को उत्पन्न करता है।

परिग्रह को दुःख का मूल बताते हुए आ. शुभचन्द्र लिखते हैं कि-

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाऽशुभम् ।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां, दुःखं वाचामगोचरम् ।।

(ज्ञानार्णव -१६/१२)

अर्थ : परिग्रह से काम होता है, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरकगति होती है । उस नरक गति में वचनों के अगोचर अति दुःख होता है। इस प्रकार दुःख का मूल परिग्रह है ।

परिग्रह से मनुष्य के मन की तृप्ति असंभव है। अग्नि को संस्कृत भाषा में **"अनलम् "** कहते हैं। समास विच्छेद करने पर दो शब्द बनते हैं न अलम् अलम् यानि तृप्ति। बहुत से काष्ठ व घृतादि का प्राशन करके अग्नि तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार अति संचय करने पर भी परिग्रही मन संतुष्ट नहीं होता। अतः साधक को प्रयत्न पूर्वक अतिकांक्षा का हनन करना होगा, जिससे वह साधना निर्विघ्न कर सकें व केवलज्ञान और परम सुख प्राप्त कर सकें।

म-कार त्यागने का फल

मद्यमांसमधुत्यागफलं केनानुवर्ण्यते?
काकमांसनिवृत्याऽभूत् स्वर्गे खदिरसागरः ।। ४५.

अन्वयार्थ :

मद्य	मद्य का
मांस	मांस का (और)
मधु त्याग	मधु के त्याग का
फलं	फल
केन	किसके द्वारा
अनुवर्ण्यते	कहा जा सकता है?
काकमांस	कौअे के मांस को
निवृत्या	छोड़ने से
खदिरसागर	खदिरसागर
स्वर्गे	स्वर्ग में (उत्पन्न)
अभूत्	हुआ

अर्थ : मद्य-मांस और मधु को त्याग देने से प्राप्त होने वाले फल का वर्णन कौन कर सकता है? कौअे का मांस त्यागने मात्र से ही खादिरसागर स्वर्ग में देव हुआ।

भावार्थ : श्रावक के अष्ट मूलगुणों में तीन म-कारों का त्याग करने का उपदेश पाया जाता है । म-कार का अर्थ है म व्यंजन से प्रारंभ होने वाली वस्तुएं। मद्य, मांस और मधु को मकार कहा गया है, इन का त्याग किये बिना कोई जीव श्रावक कहलाने का अधिकारी नहीं है।

आचार्य भगवन्त कहते हैं कि खदिरसागर भील के द्वारा मात्र कौअे का मांस का त्याग किया गया था। उसके फल स्वरूप वह स्वर्ग में देव हुआ। फिर मद्य-मांस-मधु का पूर्ण रूप से त्याग करके अहिंसा व्रत का निरतिचार पालन करनेवाले जीव को जो फल मिलेगा, उस का वर्णन कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं ।

खदिरसागर की कथा : विन्ध्याचल के मलयजकुट वन में खदिरसागर नामक भीलराज रहा करता था। किसी-दिन उसने समाधिगुप्त नामक मुनिराज को हर्ष सहित नमस्कार किया। मुनिराज ने आशीर्वाद दिया **"सद्धर्म वृध्दिरस्तु"** (सम्यक् धर्म की वृध्दि होओ) खदिरसागर ने हाथ जोडकर प्रश्न किया "हे गुरुदेव! धर्म क्या है? और उस का लाभ क्या है"? मुनिराज ने कहा "हे वत्स! दया को धारण करना, धर्म है। मांसादि को नहीं खाना धर्म है। उस से सुख का लाभ होता है।" मुनिराज के वचन सुनकर खदिरसागर बोला "हे मुनिश्रेष्ठ! मैं सर्व प्रकार के मांस का त्याग करने में असमर्थ हूँ। मै क्या करूं? तपोधन ने कहा "हे भव्य! तुम काक मांस का त्याग करो।" खदिरसागर गट ने समाधिगुप्त मुनिराज के चरणों में कौअे का मांस न खाने की प्रतिज्ञा की।

व्रत लेकर बहुत काल व्यतीत हो गया। एक बार उसे कोई भयंकर व्याधि हुइ । वैद्य ने कहा कि "इस व्याधि का शमन कौअे का मांस खाने से ही होगा"। खदिरसागर ने

सोचा कि "मैंने जीवन में केवल एक ही शुभकार्य किया था, जो नैर्ग्रंथ्यपूत के श्री चरणों में काक-मांस का त्याग किया था। आज मेरे उस संकल्प की परीक्षा का अवसर प्राप्त है। अतः मुझे अपने संकल्प से भ्रष्ट नहीं होना चाहिये।"

काफी सोचने के उपरान्त उसने अपना फैसला सुनाया कि "मैंने श्री गुरु चरणों में काक मांस खाने का त्याग किया है । अतः मैं उसे नहीं खाऊंगा, चाहे व्याधि शमन हो या न हो।" परिवार के सदस्यों ने तथा वैद्य ने उसे बहुत समझाया, परन्तु वह अपने संकल्प पर अड़िग रहा।

उस को समझाने के लिए उस के बहनोई, सौरीपुर के राजा शूरवीर को बुलवाया गया। जब राजा शूरवीर सौरीपुर से खदिरसागर के पास जा रहा था, तब उसे गहन वन के मध्य में एक विशाल वटवृक्ष के नीचे स्त्री रोती हुई दिखाई दी। उसे देख कर शूरवीर ने पूछा "कहो, किस कारण से तुम यहाँ अकेली बैठ कर रो रही हो?" स्त्री ने जवाब दिया" तुम्हारा साला, जो किसी बलिष्ट रोग से पीड़ित है, वह काक मांस नहीं खाऊंगा इस प्रतिज्ञा के साथ मरकर व्रत के फल से व्यन्तर जाति का देव हो कर मेरा पति होनेवाला है, किन्तु आज आप उसे काक मांस खिलाकर नरक गति का पात्र बनाओगे। यही मेरा दुःख है।"

यक्षी की बात को सुनकर शुरवीर बोला "हे देवी! तुम मुझपर विश्वास करो, मैं उसे काक-मांस नहीं खिलाऊंगा।" ऐसा विश्वास दिलाकर वह खदिरसागर से मिलने के लिए पहुँचा।

उसने जब खदिरसागर की अत्यन्त रुग्नावस्था देखी, तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा" खदिरसागर! तुम को काक-मांस खा कर रोग-शमन करना चाहिये।"

दृढ़ निश्चयी खदिरसागर ने कहा "हे शुरवीर! तुम मेरे प्राणों के समान बन्धु हो। तुम्हें मेरे कल्याण की ही बात कहनी चाहिये। काक-मांस भक्षण मेरे लिए हितकर नहीं है। मैं चाहे इसी पल मर जाऊं, परन्तु मैं नियम को भंग नहीं होने दूंगा।"

खदिरसागर की दृढ़ता देखकर बहनोई ने उसे यक्षी से हुआ वार्तालाप कह सुनाया। खदिरसागर की श्रध्दा उस विवरण को सुन कर और अधिक बलवती हो गयी। उसने मरते समय सम्पूर्ण व्रतों को ग्रहण किया, मर कर सौधर्म कल्प में देव हुआ।

उचित क्रियाकर्म कर शूरवीर जब पुनः लौट रहा था, तो मार्ग में रोती हुई यक्षी पुनः दृष्टिगत हुई। पूछने पर यक्षी ने बताया कि "उसने मरते समय समस्त व्रत समुदाय को स्वीकार कर लिया था, अतएव वह मेरा पति नहीं हुआ। व्रतों के फल से वह व्यन्तर गति से छुटकारा पाकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ।

यक्षी के कथन को सुन कर और विचार करके शूरवीर समाधिगुप्त मुनिराज के चरणों में पहुँचा। वहाँ उसने श्रावकोचित सम्पूर्ण व्रत ग्रहण किये।

खदिरसागर दो सागरोपम कालतक देवायु का दिव्य उपभोग कर मित्र राजा का पुत्र सुमित्र हुआ। कु-तप द्वारा व्यंतर हुआ। तत्पश्चात् वह राजा श्रेणिक बना, जो आगामी काल में प्रथम तीर्थंकर बनेगा।

मद्य के दोष

मद्यस्यावद्य मूलस्य सेवनं पाप-कारणम् ।
परत्रास्तामिहाप्युच्चै - र्जननीं वांछयेदरम् ।। ४६.

अन्वयार्थ :

अवद्य	पापों का
मूलस्य	मूल
मद्यस्य	मद्य का
सेवनम्	सेवन
पाप-कारणम्	पाप का कारण है।
परत्राः	परलोक की बातें तो
उच्चैः	दूर (ही)
आस्ताम्	रहें
इह	इस लोक में
अपि	भी (वह)
जननीम्	माता से
अरम्	बलात्कार करना
वांछयेत्	चाहता है।

अर्थ : मद्य पापों का मूल है। परलोक की बात तो दूर ही रहे, परन्तु इस लोक में भी मद्यपायी माता से बलात्कार करना चाहता है।

भावार्थ : वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि

शराब में इथाईल अल्कोहोल पाया जाता है जिसका रूपान्तरण होता है असिटाल्डिहाईड रूप पदार्थ में। यह पदार्थ शरीर के अवयवों को कष्ट देता है। यह सब से खराब परिणाम करता है - यकृत पर। शराब के कारण यकृत को अक्युट हिपेन्टायटिम्र नामक रोग होता है, उस का अन्तिम फल है, जलोदर नामक महाभयंकर रोग का निर्माण। उस से रक्त वाहिनी नलिकापर सूजन चढती है, वह फूलकर अन्त में फूटती है, उस से आन्तरिक रक्तस्राव होकर पीलिया और लिव्हर कोमा होता है।

यकृत के साथ शराब का हृदय पर होने वाला गम्भीर परिणाम भी विलोकनीय है। असिटाल्डिहाईड के संयोग से शरीर के प्रोटीन नष्ट होते हैं। इस से हृदय नियंत्रण शिथिल होता है। हृदय नाड़ी अनियमित चलती है, रक्तवाहिनी कड़क होती है। खून की गुठली तैयार होती है। रक्ताभिसरण क्रिया में बारबार व्यत्यय आता है। अन्न नलिका की खराबी और गले का कैन्सर इस में ७३ प्रतिशत शराबी होते हैं, ऐसा डाक्टरों का अनुभव है।

गर्भवती द्वारा किया गया शराब का सेवन भी गर्भ के लिए हानिकारक है, ऐसा सिद्ध

हो चुका है। गर्भस्थ बालक का सिर छोटा हो जाता है, आंखें और चेहरा विकृत हो जाता है। अवयव अव्यवस्थित बनते हैं। शराब अपना प्रभाव मज्जासंस्थान पर भी स्थापित करता है। मेन्दू की कार्यक्षमता यह कम करती है, फलतः बुद्धि का (विचार-शक्ति का) तथा सहनशीलता का नाश होता है।

यह शराब स्वादु पिंड पर भी अपना रोब जमाती है। उस से स्वादुपिण्ड ग्रन्थी में सूजन आती है, पेट और पीठ के रोग होते हैं। शराब के कारण रक्त में शर्करा का प्रमाण कम होता है, उस से हाथ व पैरों में कंपकंपी, मन की चंचलता, चक्कर आना, स्मरण शक्ति का नाश आदि रोग उद्भावित होते हैं। शरीर की प्रतिकार शक्ति समाप्त होने से निमोनिया होता है। इन्हीं सब बातों का विचार कर दूरदर्शी आचार्यों ने शराब पीने का निषेध किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि–

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंकमाचरति।।

(पुरुषार्थ सिध्द्युपाय - ६२)

अर्थ : मदिरा मन को मूर्छित-बेहोश कर देती है। मोहित चित्तवाला पुरुष धर्म को भूल जाता है। धर्म को भूला हुआ जीव बिना किसी प्रकार की शंका के हिंसा का आचरण करता है।

आचार्य अमितगति ने लिखा है कि -

व्यसनमेति करोति धनक्षयं मदमुपैति न वेत्ति हिताहितम् ।
क्रममतीत्यनोति विचेष्टितं भजति मद्यवशेन न किं क्रियाम् ।।

(सुभाषित रत्न सन्दोह २०/११)

अर्थ : मनुष्य मद्य को पी करके कष्ट को प्राप्त होता है, धन का नाश करता है, गर्व को धारण करता है, हित और अहित को नहीं जानता है और मर्यादा का उल्लंघन कर के प्रवृत्ति करता है। ठीक है, मद्य के वश से प्राणी कौन-से कार्य को नहीं करता है? अर्थात् वह सब ही अहितकर कार्य करता है।

श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र ने मद्यपान के १६ दोष बताये हैं। यथा

१ वैरूप्य	२ व्याधिपिण्ड	३ स्वजन परिभव	४ कार्यकालातिपात
५ विद्वेष	६ ज्ञान नाश	७ बुध्दि नाश	८ स्मृतिनाश
९ सज्जनों से अ-लगाव		१० वाणी में कटुत्व	११ नीच पुरुष सेवा
१२ कुल कीर्ति नाश		१३ बल-नाश	१४ धर्मनाश
१५ अर्थनाश		१६ काम नाश	

Bacon नामक विद्वान ने लिखा है कि –

All the armies on earth do not destroy so many of the human race nor alienate human property as drunkenness.

अर्थात् संसार की समस्त सेनायें भी मानव जाति का इतना विनाश नहीं कर सकती और न सम्पत्ति बरबाद कर सकती है, जितना की मदिरापान कराती है।

भारतेन्दु ने लिखा था कि -

मुँह जब लागै तब नहिं छुटै,
जाति मान धन सब कुछ लूटै।।
पागल करि मोहै करै खराब।
क्यों सखि साजन? नहीं शराब।

(सुधा-पृष्ट-३२)

डॉ. Sence ने तो यहाँ तक लिखा है कि -
Drunkenness is nothing else but a voluntary madness.

अर्थात् मद्यपान स्वेच्छा से अपनाये गये पागलपन के अलावा कुछ नहीं है।

धार्मिक, नैतिक व स्वास्थ्यादि किसी भी दृष्टि से मद्यपान उचित नहीं है। वह सम्पूर्ण अनर्थों को उत्पन्न करता है, अतः उस का त्याग करना ही उचित है।

मधु - दोष

गम्मूतोऽशुचि वस्तूनामप्याधाय रसान्तरम् ।
मधूयन्ति कथं तन्नापवित्रं पुण्यकर्मसु ।। ४७

अन्वयार्थ :

अशुचि	अशुध्द
वस्तूनाम्	वस्तुओं को
अपि	भी (जैसे)
गम्मूतः	घास को
आध्याय	ग्रहण करके
रसान्तरम्	अन्य रस रुप
मधूयन्ति	शहद बनाती है
तत्	वह
पुण्यकर्मसु	पुण्य कर्मों में
अपवित्रम्	अपवित्र
कथम्	कैसे
न	नहीं है?

अर्थ : मधु-मक्षिका अशुध्द घास आदि पदार्थों को ग्रहण करके अन्य रस में परिवर्तित करते हुए शहद बनाती है। वह शहद पुण्य कर्मों में अशुध्द कैसे नहीं है -? अर्थात् अवश्य है।

भावार्थ : शहद वास्तव में मधु मक्खियों के अण्डे, बच्चे एवं मांस का निचोड है। वैज्ञानिक कहते हैं कि एक किलो शहद के लिए उन मक्खियों को लगभग ७०,००० किलो मीटर का चक्कर लगाना पड़ता है, इस बीच वह ६०,००० फूलों से रस चूसती है।

उपासकाध्यपन नामक ग्रंथ में लिखा है कि

उच्छिष्टं मधुमक्षिका मधुरसं वेश्मन् विनाशं तदा।
कोशानि प्रभवन्ति बहूजीवस्तेऽपि मृत्युक्षणे।।
रसं चाण्डजदेहिनां पललरुपं वा मधु भक्षणे।
रुग्नं नगरमिव प्रभाति बहु धायत्संहरन्तोऽप्यदयम् ।।२८।।

(अध्याय क्रमांक - ४)

अर्थात् प्रथमतः शहद मक्खियों की झूठन है। ग्रन्थकार ने शहद के छत्ते को विशाल

नगर की उपमा दी है। जैसे किसी भी नगर में एक दिन में कितने ही लोग जन्म लेते हैं, तो कितने ही लोग अपनी जीवन लीला पूर्ण करते हैं। उसी प्रकार छत्ते में बहुत से जीव अण्डों के माध्यम से निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, व उसी समय कई जीव आयु की समाप्ति से मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। जब शहद को निकाला जायेगा न जाने कितने जीव प्रत्यक्ष रूप में मारे जाएंगे? अतएव मधु भक्षण करनेवाला जीव मांस भक्षी भी है।

आगे और भी विश्लेषण करते हुए आचार्य देव ने लिखा है कि –

भक्षणे भवति हिंसा नित्यमुदभवन्ति यज्जीवराशी :।
स्पर्शनेऽपि मृयन्ते सूक्ष्म निगोद रसज देहिनः ।। २९.
अगदेऽपि न सेवितव्यः हिंसा भवति सेवनकाले।
भावे विकृता खलु प्रदाता सुखमाभाति कदा।। ३०

अर्थात : इस शहद में हमेशा सूक्ष्म निगोद शरीर ही जिस का रस है, ऐसे निगोदिया जीव उत्पन्न होते रहते हैं। वे जीव मात्र स्पर्श से भी मरण को प्राप्त होते हैं। औषधि के रूप में भी इसका सेवन अनुचित है। सज्जनों को यह जान लेना चाहिए कि शहद की एक बूंद खाने में ७ गांव जलाने के बराबर पाप लगता है, ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है। अतएव किसी भी अवस्था में मधु भक्ष्य नहीं है।

कई लोग (अन्यमतावलम्बी) पूजादिक कार्यों में मधु को इष्ट मानते हैं। आचार्य भगवन्त उन्हें समझाते हैं कि हिंसाजनक और अशुध्द पदार्थों से उत्पन्न मधु पवित्र कार्यों में ग्राह्य कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

आयुर्वेदीय औषधियों में भी अल्पज्ञानी वैद्यों के द्वारा मधु के प्रयोग का उपदेश दिया जा रहा है, परन्तु सदगृहस्थ को औषधि के रूप में भी मधुभक्षण नहीं करना चाहिये।

व्यसन निन्दा

व्यसनानि प्रवर्ज्यानि नरेण सुधियाऽन्वहम् ।
सेवितान्यादृतानि स्युर्नरकायाश्रयेऽपि च।। ४८.

अन्वयार्थ :

सुधिया	बुध्दिमान्
नरेण	मनुष्य के द्वारा
व्यसनानि	व्यसनों को
प्रवर्ज्यानि	छोड जाना चाहिये
अन्वहम्	प्रतिदिन (इस को)
सेवितानि	सेवन करने से
च	और
आदृतानि	आदर करने से
नरकाय	नरक को भी
अपि	भी
आश्रये	प्राप्त
स्युः	होता है।

अर्थ : बुध्दिमान् मनुष्य व्यसनों को छोड़ें। व्यसनों का सेवन करने से तथा उन का आदर करने से नरक की प्राप्ति होती है।

भावार्थ : व्यसन शब्द वि उपसर्ग पूर्वक अस् धातु से बना हुआ है। अस् धातु का अर्थ है फैंकना। जो बुरे कार्य में विशेष रूप से फैंके, वे व्यसन हैं। यही परिभाषा पं. आशाधर जी को इष्ट है।

जगत्तीव्र कषाय कर्मशमनस्कारापितै र्दुष्कृतै
श्चैतन्यं तिरयत्त मस्तरदपि द्यूतादि यच्छ्रेयसः।
पुंसो व्यस्यति तद्विदो व्यसनमित्याख्यान्त्यतस्तदव्रतः
कुर्वीतापि रसादि सिध्दिपरतां तत्सोदरीं दूरगाम् ।।

(सागार धर्मामृत-३/१९)

अर्थ : यतः निरन्तर उदय में आनेवाले तीव्र क्रोधादिक से कठोर हुए आत्मा के परिणाम के निमित्त से उत्पन्न होने वाले पापों के द्वारा मिथ्यात्व को उल्लंघन करने वाले, चैतन्य को आच्छादित करने वाले जुआ आदि सातों ही व्यसन पुरुषों को कल्याणमार्ग से भ्रष्ट कर देते हैं, अतः विद्वान् लोग उन जुआ आदि को व्यसन कहते हैं, इसलिए जुआ आदि सप्त व्यसनों का त्याग करनेवाला श्रावक जुआ आदि व्यसनों की बहिन रसादिकों के सिध्द करने की तत्परता को भी दूर करे।।

शंका : पाप और व्यसन में क्या अन्तर है?

समाधान : प्रमाद के वशीभूत होकर किसी कार्य का करना, पाप है तथा उस बुरे कार्य को बार-बार करना, व्यसन है। व्यसनों के विषय में आ. पद्मनन्दि उत्प्रेक्षा करते हैं कि –

सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम् ।
आकर्षयन्नृणामेतद् व्यसनं स्वसमृद्धये।।

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका ६/१२)

अर्थ : नरक सात ही हैं। उन्होंने मानों अपनी समृध्दि के लिए मनुष्यों को आकर्षित करनेवाले इस एक एक व्यसन को नियुक्त किया है।

व्यसन बिभीषिका पूर्ण हैं। वे अविवेक को जन्म देते हैं। व्यसनों के कारण न केवल व्यक्ति अपितु नगर और देश भी विनाश के कगार पर पहुँच जाते हैं। व्यसनी व्यक्ति में मुख्यता से दो दुर्गुण प्रकट हो जाते हैं १ लापरवाही और २ अपराध प्रवृत्ति। उसे यह पता चल जाता है कि व्यसनों से मेरा पतन अवश्य होना है, फिर भी वह आध्यात्मिक उन्नति, सामाजिक मर्यादा तथा स्वयं का स्वास्थ्य इन सब से लापरवाह हो जाता है। व्यसनों की पूर्ति के लिए जो आवश्यक सामग्री चाहिये, उसे जुटाने के लिए वह सबकुछ कर गुजरने को तैयार हो जाता है, इस से वह अकरणीय कार्यों में भी प्रवृत्त हो जाता है, अतः व्यसनी मनुष्य के द्वारा अपराध होना साहजिक है।

व्यसनी व्यक्ति से किसी प्रकार के आदर्श आचरण की अपेक्षा करना, आकाशकुसुम,- वन्ध्यापुत्र अथवा खरश्रृंग की चाहना करने के समान निरर्थक है। उस में प्रमत्तता का वर्धन होता है और वह प्रमत्तता उसे दुष्ट प्रवृत्तियों की ओर बढ़ाती है। उस के समस्त संस्कार क्षणार्द्ध में ही विनष्ट हो जाते हैं।

व्यसन मनुष्य के जीवन को विकट बना देते हैं। व्यसन मनुष्य को दुर्गति के निकट ले जाते हैं। व्यसन मनुष्य को ऐसी उलझनों में फँसा देते हैं कि फिर उलझनों का सिलसिला समाप्त होने का नाम ही नहीं लेता। व्यसन ऐसी ढलान के समान है, कि जहाँ हमारे जीवन की गाड़ी एक बार चल पड़े तो स्वयमेव इतनी गतिमान् हो जाती है कि तलहटी में ले जाकर पहुँच जाती हैं। एक बार लुढ़क गये तो लुढ़क गये-फिर सम्हलने का अवसर ही नहीं मिल पाता। नदी की भँवर में फँसा प्राणी जैसे विवश होकर नदी के तल तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार व्यसनों के भँवर में फंसा हुआ मनुष्य नरक निगोद में पहुँच जाता है।

व्यसन का सेवन मनुष्य को भ्रष्ट कर देता है, आदमी अपनी सहज लज्जा खो बैठता है, चाहे अनचाहे वह निन्दित कर्म करने लगता है। व्यसन उसे उस का शील भुलवा देते हैं।

जैनाचार्यों ने व्यसन के सात भेद किये हैं। आ. पूज्यपाद सप्त व्यसनों का नाम निर्देश करते हुए लिखते हैं कि –

द्यूतं मांसं सुरा वेश्या, परदाराभिलोभनम् ।
मृगया सह चौर्येण, स्युःसप्त व्यसनानि वै।।

(पूज्यपाद श्रावकाचार ३५)

अर्थात : जुआ खेलना, मांस भक्षण, सुरापान, वेश्या सेवन, परदारा लोभन, शिकार और चोरी ये सप्त व्यसन हैं।

(इन सातों का विस्तृत वर्णन पढ़े, मुनिश्री द्वारा की गई पूज्यपाद श्रावकाचार की हिन्दी टीका में। – सम्पादक.)

सप्त व्यसन दुर्गति के मार्ग, पापों के वर्धक, रत्नत्रय के नाशक और दुःखदायक हैं। अतः बुध्दिमान् पुरुषों को उनका त्याग करना चाहिये।

ग्रंथकार कहते हैं कि उनका सेवन करना तो दूर की बात रही, मात्र आदर करना भी नरकगति का कारण है।

रात्रि भोजन त्याग का फल

छत्र चामर वाजीभ रथ पदाति संयुताः ।
विराजन्ते नरा यत्र ते रात्र्याहारवर्जिनः ।।४९.

अन्वयार्थ :

यत्र	जहाँ
छत्र	छत्र
चामर	चामर
वाजी	घोड़ा
इभ	हाथी
रथ	रथ
पदाति	पदातियों से
संयुताः	संयुक्त
नराः	नर
विराजन्ते	रहते हैं
ते	वे
रात्र्याहार	रात्रि भोजन के
वर्जिनः	त्यागी थे।

अर्थ : छत्र, चंवर, घोड़ा, हाथी, रथ एवं पदातियों से युक्त नर जहाँ कहीं भी दिखाई पड़ते हैं, समझना चाहिये कि इन्होंने पूर्व भव में रात्रि भोजन का त्याग किया था।

भावार्थ : भोजन के चार भेद हैं - खाद्य-स्वाद्य-लेह्य और पेय।

खाद्य : खाने योग्य पदार्थ, खाद्य हैं। यथा - रोटी, भात, कचौड़ी, पूड़ी आदि।

स्वाद्य : स्वाद लेने योग्य पदार्थ, स्वाद्य हैं। यथा - चूर्ण, ताम्बूल, सुपारी आदि।

लेह्य : चाटने योग्य पदार्थ, लेह्य है। यथा - रबड़ी, मलाई, चटनी आदि।

पेय : पीने योग्य पदार्थ, पेय हैं। यथा - पानी, दूध, शरबत आदि।

रात्रिकाल में चारों प्रकार के आहार का पूर्ण त्याग करना, रात्रिभोजन त्याग नामक व्रत है। रात्रि भोजन त्यागी को भोजन का त्याग कब करना चाहिये? यह बताते हुए आ. पूज्यपाद कहते हैं कि :-

दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे ।
नक्तं तं प्राहुराचार्या न नक्तं रात्रिभोजनम् ।।

(पूज्यपाद श्रावकाचार - ९४)

अर्थ : दिन के आठवें भाग में सूर्य के मन्द प्रकाश के हो जाने पर अवशिष्ट काल को आचार्य गण "नक्त (रात्रि) कहते हैं। केवल रात्रि में भोजन करने को ही नक्त भोजन नहीं

कहते, अपितु इस समय में भोजन करना भी रात्रि भोजन है।

१) रात्रि भोजन त्यागी को रात्रि में बना हुआ, रात्रि को खाना, २) दिन को बना हुआ, रात्रि को खाना तथा ३) रात्रि का बना हुआ-दिन में खाना, ये तीनों दोष टालने चाहिये।

आ. अमृतचन्द्र ने लिखा है कि -

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत्कथं हिंसाम्।

अपि बोधित प्रदीपे, भोज्यजुषा सूक्ष्मजन्तूनाम्।।

(पुरुषार्थ सिध्द्युपाय -१३३)

अर्थ : सूर्य के प्रकाश के बिना रात्रि के अंधकार में भोजन करने वाला दीपक के जला लेने पर भी भोजन में प्रीतिवश गिरनेवाले सूक्ष्म जन्तुओं की हिंसा को कैसे बचा सकता है? अर्थात् नहीं बचा सकता।।

इससे यह कु-तर्क भी व्यर्थ हो जाता है कि दीपक अथवा लाइट के प्रकाश में भोजन करना दूषक नहीं है।

रात्रि में सूर्यप्रकाश के अभाव में अनेक सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं। भोजन के साथ यदि जीव पेट में चले गये तो रोग के कारण बनते हैं।

इनके पेट में जाने पर	**ये रोग होते है**
चींटी, चींटा	बुध्दिनाश
जूँ, जूएँ	जलोदर
मक्खी	वमन
लिक	कोढ़
बाल	स्वरभंग
बिच्छु	मरण

रात्रि भोजन का त्याग करने से प्राणी संयम पलता है। अहिंसा व्रत विशुध्द होता है, करुणा भाव का संरक्षण होता है तथा स्वास्थ्य लाभ होता है-अतः बुध्दिमानों को रात्रि भोजन का पूर्णतया त्याग करना चाहिये।

ग्रंथकार कहते हैं कि छत्र-चंवर-घोड़ा-हाथी-रथ और पदातियों से युक्त नर (राजा) जहाँ कहीं भी दिखाई पड़ते हैं, ऐसा समझना चाहिये कि उन्होंने पूर्व भव में रात्रिभोजन का त्याग किया था। उस त्याग से उपार्जित हुए पुण्य को वे भोग रहे हैं।

णमोकार मन्त्र के स्मरण का फल

दशन्ति तं न नागाद्या न ग्रसन्ति न राक्षसाः।
न रोगाद्यपि च जायन्ते यः स्मरेन्मन्त्रमव्ययम् ।। ५०.

अन्वयार्थ

तम्	उस को
नागाद्या	नागादि
न	नहीं
दशन्ति	डसते हैं
राक्षसाः	राक्षस
न	नहीं
ग्रसन्ति	ग्रसते हैं
च	और
रोगादि	रोगादि
अपि	भी
न	नहीं
जायन्ते	होते
यः	जो
अव्ययम्	अव्यय
मन्त्रम्	मन्त्र का
स्मरेत्	स्मरण करता है।

ज्ञातव्य है कि

शास्त्रसार संग्रह में रोगाद्यपि जायन्ते के स्थानपर रोगाश्चापि जायन्ते छपा हुआ है

टिप्पणी : नागाद्या की जगह मेरी समझ से नागादी चाहिये।

अर्थ : जो अव्यय मन्त्र का स्मरण करता है, उसे नागादिक दंश नहीं करते, राक्षस नहीं ग्रसते और रोग भी नहीं होते।

भावार्थ : दिवादि गण के मन् ज्ञाने धातु से ष्ट्रन प्रत्यय करने पर मन्त्र शब्द बनता है। इस की व्युत्पत्ति है **मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेन इति मन्त्रः** अर्थात् - जिस के द्वारा आत्मा का आदेश निजानुभव जाना जाए, वह मन्त्र है।

तनादिगणीय मन् अवबोधे धातु से ष्ट्रन प्रत्यय की योजना करने पर मन्त्र शब्द सिध्द होता है। इस की व्युत्पत्ति इस प्रकार है – **मन्यते विचार्यते आत्मादेशो येन स मन्त्रः** अर्थात् जिसके द्वारा आत्मादेश पर विचार किया जाए, वह मन्त्र है।

मन् सम्माने धातु के साथ ष्ट्रन प्रत्यय के योग से भी मन्त्र शब्द बनता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है "**मन्यन्ते सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिताः आत्मानः वा यक्षादिशासनदेवता अनेन इति मन्त्रः** अर्थात् जिस के द्वारा परमपद में स्थित पंच उच्च आत्माओं का अथवा यक्षादि शासन देवों का सत्कार किया जाए, वह मंत्र है।

इस संसार में अनेकों मन्त्र हैं। परन्तु णमोकार मन्त्र सब मन्त्रों का राजा है। इस के महत्त्व को बताते हुए आर्ष ग्रंथ कहते हैं कि –

एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होई मंगलं।।

यह णमोकार मन्त्र सर्व पाप प्रणाशक है एवं संसार के समस्त मंगलों में आद्य मंगल है। आर्ष ग्रंथों का कथन है कि –

एयं कवयमभयं, खाइ य सत्थं परा भवणरक्खा।
जोई सुण्णं बिंदु, णाओ तारा लवो मत्ता ।।३०।।

अर्थ : यह णमोकार मन्त्र अमोघ कवच है, परकोटे की रक्षा के लिए खाई है, अमोघ शस्त्र है, उच्चकोटि का भवन रक्षक है, ज्योति है, बिन्दु है, नाद है, तारा है, लव है, यही मात्रा भी है।

णमोकार मन्त्र का स्मरण प्रतिदिन करने से आत्मसम्मान की भावना जागृत होती है, मिथ्यात्व का अंधकार क्षणार्ध में नष्ट हो जाता है, मोह का समूल उच्चाटन होता है, अज्ञान का हनन होता है तथा सर्व पाप विनष्ट हो जाते हैं।

अग्नि में जैसे सम्पूर्ण इंधन भस्म हो जाता है, उसी प्रकार णमोकार मंत्र की स्मरणाग्नि में जन्म-जरा-मरण भय अनादर दुर्भावना विकार कषाय क्लेश दुःख और दारिद्र्यादि भस्म हो जाते हैं।

यह मन्त्र समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाला है, यह मन्त्र कर्म रूपी पर्वत को चूर्ण करनेवाला है, यह मन्त्र द्वादशांग का मूल है, यह मन्त्र मोक्षलक्ष्मी का प्रिय फूल है, यह मन्त्र सर्व सिध्दियों का दाता है, यह मन्त्र समस्त दुःखों का हर्त्ता है।

मुनि हो या श्रावक, आत्मशुध्दि हेतु वे इसका सतत् विधिपूर्वक स्मरण करते हैं। वासनाओं के जाल में उलझा हुआ मन अपने विकारों का उपशमन इसी मन्त्र के द्वारा करता है। णमोकार मन्त्र में पात्रताओं को नमस्कार किया गया है, अतः उसका अनुस्मरण स्मरणार्थी में पात्रता का संचरण करता है-यही कारण है कि इसे मन्त्राधिराज कहा जाता है। यह मन्त्र सम्पूर्ण विघ्नों का विनाशक है।

णमोकार मन्त्र को महामन्त्र, अव्यय मन्त्र, परमेष्ठी मन्त्र, नमस्कार मन्त्र, अविनाशी मंत्र आदि अनेक नाम हैं। ग्रंथकार ने अव्यय मन्त्र इस नाम को स्वीकार किया है।

नित्य पूजापाठ में लिखा है कि –

आकृष्टिं सुरसंपदां विदधते मुक्तिश्रियो वश्यताम् ।
उच्चाटं विपदां चतुर्गति भुवां विद्वेषमात्मैनसाम् ।
स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य संमोहनम्
पायात्पञ्चनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता।। २.

अर्थ : यह णमोकार मन्त्र देवों की विभूति और सम्पत्ति को आकृष्ट कर देनेवाला है, मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वश करनेवाला है, चतुर्गति में होने वाले सभी तरह के कष्ट व विपत्तियों को दूर करने वाला है, आत्मा के समस्त पाप को भस्म करने वाला है, दुर्गति रोकने वाला है, मोह का स्तम्भन करनेवाला है, विषयासक्ति को घटाने वाला है, आत्मश्रध्दा को जागृत करने वाला है और सभी प्रकार से प्राणी की रक्षा करने वाला है।

रात्रि में णमोकार मन्त्र का स्मरण करने का फल

रात्रौ स्मृत नमस्कारः सुप्तः स्वप्नान् शुभाशुभान् ।
सत्यानेव समाप्नोति पुण्यं च चिनुते परम् ।। ५१.

अन्वयार्थ :

नमस्कार :	णमोकार मन्त्र का
स्मृतः	स्मरण कर
रात्रौ	रात्रि में
सुप्तः	सोने वाला
स्वप्नान्	स्वप्न में
शुभाशुभान्	शुभाशुभ फल को
सत्यान्	यथार्थ
एव	ही
समाप्नोति	प्राप्त करता है
च	और
परम्	परम
पुण्यम्	पुण्य
चिनुते	संचय करता है।

अर्थ : जो व्यक्ति णमोकार मन्त्र का स्मरण करते हुए रात्रि में शयन करता है, वह स्वप्न में शुभ व अशुभ फल को जान लेता है तथा परम पुण्य का संचय करता है।

भावार्थ : अनन्तर पूर्व कारिका में णमोकार मन्त्र के अनुस्मरण का फल बताया गया था। इस में भी उसी के महत्त्व को दृढ़ किया जा रहा है।

ध्यान ग्रंथों में धर्मध्यान के ४ भेद किये गये हैं पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। णमोकार मन्त्र का ध्यान करना, पदस्थ धर्मध्यान है। आ. योगीन्द्रदेव ने लिखा है कि **पदस्थं मन्त्र वाक्यस्थम्** । (ज्ञानांकुश स्तोत्रम् -१४) मन्त्र वाक्यों का ध्यान करना, पदस्थ धर्मध्यान है।

आगम शास्त्र में णमोकार मन्त्र को सुन कर भी अनेक पशुओं ने अपना उद्धार किया, इस के प्रमाण उपलब्ध होते हैं । यथा-

१. वन विहार करने गये भगवान् पार्श्वनाथ ने (गृहस्थावस्था में) जलते हुए एक नाग और नागिन को करुणार्द्र हो णमोकारमन्त्र सुनाया, जिस के फलस्वरूप वे दोनों मर कर धरणेन्द्र और पद्मावती हुए।

२. जीवन्धर कुमार ने मरते हुए कुत्ते को णमोकार मन्त्र सुनाया, जिस के प्रभाव से उस कुत्ते के जीव ने स्वर्ग की विभूति पाई।

३. एक मरणासन्न बकरे को देख कर श्रेष्ठीवर चारुदत्त ने उसे णमोकार मन्त्र सुनाया फलतः वह स्वर्ग में देव हुआ।

४. अर्धमृत बन्दर को एक मुनिराज ने णमोकार मन्त्र सुनाया। बन्दर ने भक्तिपूर्वक मन्त्र का श्रवण किया, जिससे मर कर वह चित्रांगद नामक देव हुआ।

५. घायल बैल को पीड़ा से छटपटाते हुए देखकर दयाशाली पद्मरुचि सेठ उसे णमोकार मन्त्र सुनाया । आगे चलकर वह पद्मरुचि सेठ तो रामचन्द्र हुआ । बैल का जीव सुग्रीव जैसा शुरवीर राजा हुआ।

६. कीचड़ में एक हथिनी फँस गयी थी। उस का प्राणान्त सन्निकट है ऐसा देख कर सुरंग नाम के विद्याधर ने उसे णमोकार मन्त्र सुनाया। णमोकार मन्त्र के श्रवण करने से वह कुछ भवों में सुख पाती हुई, सीता जैसी महासती हुई।

मनुष्यों में भी सुदर्शन का पूर्व भव, सूर्य, दृढ़ चोर, अर्हद्दास का छोटा भाई, अंजन चोर, राणी प्रभावती, अनन्तमती तथा और भी अनेक जीवों ने इस मन्त्र के प्रभाव से अपना उद्धार किया।

इन सारी कथाओं से णमोकार मन्त्र का अधमोध्दारकत्व तथा विघ्नविनाशकत्व स्वयं सिध्द हो जाता है।

णमोकार मन्त्र का फल बताते हुए पण्डित प्रवर मेधावी ने लिखा है कि –

भव्यः पञ्चपदं मन्त्रं सर्वावस्थासु संस्मरन् ।
अनेकजन्मजैः पापै र्निःसन्देहं विमुच्यते।।

(धर्मसंग्रह श्रावकाचार - ७/१२१)

अर्थ : जो धर्मात्मा भव्य पुरुष सभी अवस्थाओं में सदा पंच महामन्त्र पदों का चिन्तवन करते रहते हैं, वे भव्यात्मा निःसन्देह अनेक जन्म में उपार्जन किये हुए पाप कर्मों से विमुक्त हो जाते है।

ऐसे पवित्र मन्त्र का स्मरण अहर्निश किया जाना चाहिये। ग्रंथकार श्री शिवकोटि कहते हैं कि जो भव्य रात्रि में णमोकार मन्त्र का स्मरण कर सोता है, उसे स्वप्न में आगे होने वाले शुभ और अशुभ फल ज्ञात हो जाते हैं।

णमोकार मन्त्र कषायों को मन्द करता है, विषयों से मन को विमुख करता है, मन को एकाग्र करता है, अतः णमोकार से अनन्त पापों का क्षय तथा प्रचुर पुण्य का बंध होता है।

नित्य -नैमित्तिक क्रिया

नित्य नैमित्तिकाः कार्याः क्रियाः श्रेयोऽर्थिना मुदा।
ताभिर्गूढ-मनस्को यत् पुण्य-पण्य-समाश्रयः ।। ५२.

अन्वयार्थ :

श्रेयः	श्रेय के
अर्थिनाम्	इच्छुक को
मुदा	हर्ष पूर्वक
नित्य	नित्य (और)
नैमित्तिकाः	नैमित्तिक
क्रिया	क्रियायें
कार्याः	करनी चाहिये
यत्	जो
ताभिः	उन के द्वारा
गूढमनस्कः	मन को गूढ़ करता है (वह)
पण्य	महा
पुण्य	पुण्य का
समाश्रयः	आश्रय स्थान बनता है।

अर्थ : जो श्रेयार्थी हर्षपूर्वक नित्य और नैमित्तिक क्रियायें करता है, उस के द्वारा मन रोका जाता है और वह पुण्य को प्राप्त करता है।

भावार्थ : जैन धर्म में पूज्य पुरुषों की आराधना पूज्यता की प्राप्ति के लिए की जाती है , इन के अलावा कोई लौकिक प्रयोजन जैनधर्म को इष्ट नहीं है।

जो क्रियाएं प्रतिदिन की जाती हैं, वे नित्य क्रियाएं हैं।

जो क्रियाएं किसी विशेष अवसर पर की जाती हैं, वे नैमित्तिक क्रियाएं हैं।

देवपूजा-गुरुपास्ति- स्वाध्याय - संयम - तप और दान ये श्रावकों की नित्य क्रियाएं हैं। अष्टमी - चतुर्दशी - पाक्षिकी और नन्दीश्वर पर्व के दिन की जाने वाली क्रियाएं नैमित्तिक क्रियाएं हैं। इन दोनों ही प्रकार की क्रियाओं का पालन यथोचित विधि से प्रत्येक सद्गृहस्थ को करना चाहिये।

शंका : जैन धर्म शुध्द अध्यात्मवादी धर्म है। फिर उस में इतनी अधिक मात्रा में क्रियाकाण्डो का वर्णन क्यों किया गया है?

समाधान : अध्यात्मवाद कोरा चिन्तन नहीं है। अध्यात्म शब्द अधि उपसर्ग पूर्वक अत् धातु से मणिन् प्रत्यय लगकर बना हुआ है। जो आत्मा की ओर ले जाये, वह अध्यात्म है - यह अध्यात्म शब्द का मूलार्थ है।

आत्मा को लक्ष्य रखकर की गई क्रिया भी अध्यात्म में अन्तर्निहित हो जाती है, अतः क्रियाकाण्ड निरर्थक नहीं है।

दूसरा कारण यह भी है कि मन बड़ा चंचल है। चंचल होने के साथ ही वह अधोगामी स्वभाववाला है। उस को रोककर कल्याण के पथ पर लगाने के लिए क्रियाएं अत्यन्त सहयोगी हैं, अतः क्रियाओं का वर्णन जैनागम में किया गया है।

ये नित्य-नैमित्तिक क्रियाएं मन को स्थिर करती है और महापुण्य का उपार्जन कराती है।

अष्टमी क्रिया

अष्टम्यां सिध्दभक्त्याऽमा श्रुतचारित्रशान्तयः।
भवन्ति भक्तयो नूनं साधूनामपि सम्मति।। ५३.

अन्वयार्थ :

अष्टम्याम्	अष्टमी को
सिध्दभक्त्या	सिध्दभक्ति से
अमा	सहित
श्रुत	श्रुत
चारित्र	चारित्र
शान्तयः	शान्ति
भक्तयः	भक्तियाँ
भवन्ति	होती हैं
साधूनाम्	साधुओं की
अपि	भी
नूनम्	निश्चय से
सम्मति	सम्मति है।

अर्थ : श्रावक व साधुओं को अष्टमी के दिन सिध्द-श्रुत-चारित्र तथा शान्तिभक्ति करनी चाहिए।

भावार्थ : चामुण्डराय लिखते हैं कि - **अष्टम्यां सिध्द-श्रुत-चारित्र-शान्तयः।** (चारित्रसार) अष्टमी के दिन सिध्द-श्रुत-चारित्र और शान्ति भक्ति करनी चाहिए।

पं. आशाधर जी का भी यही कथन है। यथा -
स्यात् सिध्द-श्रुत-चारित्र शान्तिभक्त्याष्टमी क्रिया। (अनगार-धर्मामृत १/४७)

परन्तु संस्कृत क्रियाकाण्डकार का मत कुछ भिन्न है यथा -

सिध्द श्रुत सु चारित्र चैत्य पञ्चगुरुस्तुतिः।
शान्ति भक्तिश्च षष्टीयं क्रिया स्यादष्टमीतिथौ।।

अर्थात : अष्टमी के दिन सिध्द-श्रुत-चारित्र-चैत्य, पंचगुरु एवं शान्तिभक्ति करनी चाहिये।

ये क्रियाएं साधु और श्रावकों के लिए समान रूप से करणीय हैं।

पाक्षिकी - क्रिया

पाक्षिक्य : सिध्द चारित्र शान्तयः शान्तिकारणम् ।
त्रिकाल-वन्दना-युक्ता पाक्षिक्यापि सतां मता।।५४.

अन्वयार्थ :

पाक्षिक्य :	पाक्षिक क्रिया में
सिध्द	सिध्द
चारित्र	चारित्र
शान्तयः	शान्ति भक्ति (करना)
शान्ति कारणम्	शान्ति का कारण है
त्रिकाल	त्रिकाल में
वन्दना	वन्दना (क्रिया से)
युक्ता	युक्त होकर
अपि	भी
पाक्षिक्या	पाक्षिकी करनी चाहिये, ऐसा
सताम्	सज्जनों ने
मता	माना है।

ज्ञातव्य है कि

श्रावकाचार संग्रह में पाक्षिक्य और पाक्षिक्यपि के स्थान पर पाक्षिक्याः और पाक्षिक्यापि छपा हुआ है।

अर्थ : पाक्षिकी क्रिया में सिध्द-चारित्र तथा शान्ति भक्ति करनी चाहिये तथा त्रिकाल वन्दना भी करनी चाहिये - ऐसा आचार्यों का मत है।

भावार्थ : चामुण्डराय लिखते हैं कि - **पाक्षिके सिध्द चारित्र शान्ति भक्तयः।** (चारित्रसार) पाक्षिकी क्रिया में सिध्द - चारित्र और शान्ति भक्ति करनी चाहिये।

पं. आशाधर जी लिखते हैं कि -

पक्षान्ते साऽश्रुता वृत्तं स्तुत्त्वालोच्यं यथायथम् ।

(अनगार धर्मामृत ९/४७)

अर्थ : पक्षान्त में श्रुतभक्ति छोडकर शेष भक्तियाँ अष्टमी क्रिया के समान (सिध्द-चारित्र शान्ति भक्ति) करनी चाहिये।

चतुर्दशी - क्रिया व नित्य क्रिया

चतुर्दश्यां तिथौ सिध्दश्चैत्यश्रुत-समन्विते पञ्च।
गुरु शान्तिनुती नित्यं चैत्यं च गुरुरपि।। ५५.

अन्वयार्थ :

चतुर्दश्याम्	चतुर्दशी
तिथौ	तिथि के दिन
सिध्दः	सिध्द
चैत्य	चैत्य
श्रुत	श्रुत (भक्ति से)
समन्वितः	युक्त
गुरु	पंचगुरु (और)
शान्ति	शान्ति भक्ति (पूर्वक)
नुती	नमन (करना चाहिये)
नित्यम्	नित्य
अपि	भी
चैत्यम्	चैत्य (तथा)
पञ्चगुरुः	पंचगुरु भक्ति
कुर्यात्	करें।

> **ज्ञातव्य है कि**
> श्रावकाचार संग्रह पञ्च शब्द नहीं है तथा
> नुती की जगह नुते शब्द है।
> छन्द की दृष्टि से पञ्च शब्द नहीं होना चाहिये।
> चैत्यं च गुरुरपि की जगह पञ्चगुरु अपि छपा
> हुआ है।

अर्थ : चतुर्दशी के दिन सिध्द-चारित्र, श्रुत, पंचगुरु व शान्तिभक्ति पूर्वक नमन करना चाहिये व नित्य भी चैत्य व पंचगुरु भक्ति करनी चाहिये।

भावार्थ : चामुण्डराय लिखते हैं कि -

चतुर्दशी दिने तयोर्मध्ये सिध्द-श्रुत-शान्तिभक्तिर्भवति। (चारित्रसार)

अर्थात : प्रतिदिन देववन्दना के समय चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति बोली जाती है। चतुर्दशी के दिन उसके साथ सिध्द-श्रुत और शान्ति भक्ति बोलनी चाहिये।

पं. आशाधर जी ने चतुर्दशी क्रिया में २ मत प्रस्तुत किये हैं। यथा -

त्रिसमय वन्दने भक्तिद्वयमध्ये, श्रुतनुतिं चतुर्दश्याम् ।
प्राहुस्तद्भक्तित्रयमुखान्तयोः केऽपि सिध्द शान्तिनुती।। (अनगार धर्मामृत ९/४५)

अर्थ : त्रिकाल में देव-वन्दना के समय जो नित्य चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति की जाती है, परन्तु चतुर्दशी के दिन श्रुतभक्ति करनी चाहिये। अन्य मतानुसार सिध्दभक्ति और शान्तिभक्ति भी बोलनी चाहिये। यादि किसी कारणवशात् क्रिया चतुर्दशी कौन कर सकें, तो दूसरे दिन करना चाहिये। कहा भी है कि -

चतुर्दशी क्रिया धर्म व्यासङ्गादिवशान्न चेत् ।
कर्तुं पार्येत पक्षान्ते तर्हि कार्याष्टमी क्रिया।। (अनगार धर्मामृत ९/४६)

अर्थ : किसी धार्मिक कार्य में फँस जाने के कारण यदि साधु चतुर्दशी की क्रिया न कर सकें, तो अमावस्या और पूर्णमासी को अष्टमी क्रिया करनी चाहिए।

वर्तमान में प्रत्येक क्रिया के उपरान्त समाधिभक्ति करने की परम्परा मुनिसंघों में प्रचलित है। प्रतिदिन चैत्यभक्ति एवं पंचगुरु भक्ति करनी चाहिये।

नन्दीश्वर - क्रिया

नन्दीश्वरे दिने सिध्द - नन्दीश्वर गुरुचिता ।
शान्ति भक्ति - प्रकर्त्तव्या बलि - पुष्प समन्विता ।। ५६.

अन्वयार्थ :

नन्दीश्वरे	नन्दीश्वर के
दिने	दिन में
सिध्द	सिध्द
नन्दीश्वर	नन्दीश्वर
गुरुचिता	पंचगुरु
शान्तिभक्तिः	शान्तिभक्ति (को)
बलि	नैवेद्य
पुष्प	पुष्प (से)
समन्वितः	युक्त
प्रकर्त्तव्या	करनी चाहिये।

> **ज्ञातव्य है कि**
> श्रावकाचार संग्रह में नन्दीश्वरे के स्थानपर नन्दीश्वर छपा हुआ है।

अर्थ : नन्दीश्वर पर्व के दिनों में सिध्द, नन्दीश्वर, पंचगुरु और शान्तिभक्ति को नैवेद्य तथा पुष्प सहित करना चाहिये।

भावार्थ : आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुण मास के शुक्लपक्षीय अष्टमी से पोर्णिमा तक अर्थात् आठ दिवस पर्यन्त देव-गण नन्दीश्वर द्वीप में जा कर जिनेन्द्र प्रभु की अर्चना करते हैं। उन्हीं दिनों को अष्टाह्निका पर्व अथवा नन्दीश्वर पर्व कहते हैं। इन दिनों में सिध्द-नन्दीश्वर, पंचगुरु और शान्तिभक्ति करनी चाहिये। गृहस्थ को यह भक्तियाँ नैवेद्य तथा पुष्प के साथ करनी चाहिये।

चामुण्डाय ने लिखा है कि –
नन्दीश्वर दिने सिध्द नन्दीश्वर पंचगुरु शान्तिभक्तयः। (चारित्रसार)

अर्थात : नन्दीश्वर पर्व के दिनों में सिध्द - नन्दीश्वर, पंचगुरु और शान्ति भक्ति करनी चाहिये।

गृहस्थाचार्य का लक्षण

क्रियास्वन्यासु शास्त्रोक्त - मार्गेण करणं मता।
कुर्वन्नेवं क्रियां जैनो गृहस्थाचार्य उच्यते।। ५७.

अन्वयार्थ :

शास्त्रोक्त	शास्त्र में कहे गये
मार्गेण	मार्ग से
अन्यासु	अन्य
क्रियासु	क्रियाओं को
करणम्	करना
मता	माना गया है
एवम्	और (अन्य)
क्रियाम्	क्रियाओं को
कुर्वन्	करने वाला
जैनः	जैन
गृहस्थाचार्य	गृहस्थाचार्य
उच्यते	कहलाता है।

अर्थ : शास्त्रोक्त पध्दति से अन्य क्रियायें भी करनी चाहिये। ऐसी क्रियायें करनेवाला जैन गृहस्थाचार्य कहलाता है।

भावार्थ : पाक्षिकी, अष्टमी, चतुर्दशी अथवा नन्दीश्वर पर्व की क्रियाओं के अतिरिक्त अनेक क्रियायें हैं। उन क्रियाओं को करनेवाला गृहस्थाचार्य कहलाता है।

गृहस्थस्यापि शुध्दस्य, जिनवेदोपजीविनः । गृहस्थाचार्यता देया, सच पूज्योऽखिलैर्जनैः।।

(इन्दनन्दि नीतिसार - २१)

अर्थात : जो गृहस्थ होकर भी शुध्द है जिनेन्द्र आगम के द्वारा जीवन चलाते हैं, उनके लिए गृहस्थाचार्य पद देना योग्य है.

पंचाध्यायीकार ने गृहस्थाचार्य का कार्य बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार दीक्षाचार्य दीक्षा देता है - उसी प्रकार गृहस्थाचार्य गृहस्थ को आदेश दे सकता है।

(पंचाध्यायी २/६४८)

ध्यान की प्रेरणा

चिदानन्द - परंज्योतिः केवलज्ञान - लक्षणम् ।
आत्मानं सर्वदा ध्यायेदेतत्तत्त्वोत्तमं नृणाम् ।। ५८.

अन्वयार्थ :

चिदानन्द	चिदानन्द की
परम्	उत्कृष्ट
ज्योतिः	ज्योति (स्वरूप)
केवलज्ञान	केवलज्ञान
लक्षणम्	लक्षणवाले
आत्मानम्	आत्मा को
सर्वदा	हमेशा
ध्यायेत्	ध्याना चाहिये।
एतत्	यह
नृणाम्	मनुष्यों का
उत्तमम्	उत्तम
तत्त्वम्	तत्त्व है।

ज्ञातव्य है कि
श्रावकाचार संग्रह में चिदानन्द की जगह चिदानन्दं छपा हुआ है।

अर्थ : चैतन्यानन्द की उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप केवलज्ञान लक्षणवाले आत्मा को हमेशा ध्याना चाहिये। यह ध्यान मनुष्यों का उत्तम तत्त्व है।

भावार्थ : चेतना की दो दिशाएं हैं - एक चंचल और दूसरी स्थिर। चंचल चेतना को चित्त और स्थिर चेतना को ध्यान कहा जाता है। यह मत ध्यानशतककार को भी स्वीकार है। वे कहते हैं कि - **जं थिरमज्झ वसाणं तं झाणं तं चलं तयं चित्तं।** जो स्थिर अध्यवसान एकाग्रता को प्राप्त मन है, उसका नाम ध्यान है। इससे विपरीत जो चल चित्त है, वह भावना है।

ध्यान को समझाते हुए आ. श्रुतसागर लिखते हैं कि -

"अपरिस्पन्दमानं ज्ञानमेव ध्यानमुच्यते। किंवत् ? अपरिस्पन्दमानाग्नि - ज्वालावत् । यथा अपरिस्पन्दमानाग्निज्वाला शिखा इत्युच्यते तथा अपरिस्पन्देनावभासमानं ज्ञानमेव ध्यानमिति तात्पर्यार्थ : ।

(तत्त्वार्थवृत्ति - ९/२७)

अर्थ : निश्चल अग्नि शिखा के समान अपरिस्पन्दमान निश्चल ज्ञान ही ध्यान कहलाता है। जैसे अपरिस्पन्दमान (स्थिर) अग्नि की ज्वाला शिखा कहलाती है, उसी प्रकार

निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान कहलाता है।

ध्यान चेतना का सम्यक् रूपान्तरण है। ध्यान के बिना आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। ध्यान द्वारा ही आत्मा अपनी प्रगति करता है। जैसे अग्नि के सम्पर्क में आने पर सुवर्ण की किट्टी कालिमा नष्ट होती है और सोना शुध्द हो जाता है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि के सम्पर्क में आनेवाला आत्मा अपने पर लगी हुई कर्मों की किट्टी कालिमा को भस्म कर के शुध्द हो जाता है।

ध्यान के महत्त्व को बताते हुए आ. जिनसेन लिखते हैं कि -

ध्यानमेव तपोयोगाः शेषाः परिकराः मताः।
ध्यानाभ्यासो ततोयत्नः शश्वत्कार्यो मुमक्षुभि : ।।

(आदिपुराण २१/७)

अर्थ : ध्यान तपों में सर्वश्रेष्ठ है। शेष तप उसके परिकर के सदृश हैं, अतएव मुमुक्षु जीवों के द्वारा प्रयत्न पूर्वक निरन्तर ध्यान का अभ्यास किया जाना चाहिए।

अशान्त मन को शान्ति का अथाह भण्डार प्रदान करनेवाला एकमात्र कुबेर ध्यान ही है। आत्माभिमुख होकर समस्त दुःख के कारणों का उच्चाटन करने का एकमात्र साधन ध्यान ही है। अतएव ध्यान समस्त तपों में सारभूत तप है, जो स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करा सकता है।

उपर्युक्त श्लोक में ग्रंथकार ने ध्येयभूत आत्मा के लिए तीन विशेषण दिये हैं - चिदानन्द, परंज्योति, केवलज्ञान लक्षण संपन्न।

चैतन्य का आनन्द अर्थात् अव्याबाध सुखों का निलय है आत्मा, अतः आत्मा को चिदानन्द यह विशेषण दिया गया है।

दीपक सीमित प्रकाश करता है, परन्तु चैतन्य ज्योति चराचर को प्रकाशित करती है, अतः आत्मा ही परंज्योति है।

तीन लोक व अलोक के समस्त पदार्थों को ज्ञेय बनाने का सामर्थ्य आत्मा में है, अतः आत्मा केवलज्ञान संपन्न है।

ऐसे आत्मतत्त्व का सदैव ध्यान करना चाहिये।

दुःख से मुक्ति

गार्हस्थ्यं बाह्यरूपेण पालयन्नन्तरात्मभूत् ।
मुच्यते न पुनर्दुःख योनावतति निश्चितम् ।। ५९

अन्वयार्थ :

अन्तरात्मभूत्	अन्तरात्मा होकर
गार्हस्थ्यम्	(जो) गृहस्थपने को
बाह्यरूपेण	बाह्य रूप से
पालयन्	पालन करता है (वह संसार से)
मुच्यते	मुक्त होता है।
पुनः	पुनः
दुःख	दुःख
योनौ	योनि में
निश्चितम्	निश्चित् ही
न	नहीं
अतति	आता है।

ज्ञातव्य है कि
श्रावकाचार संग्रह में भूत की जगत मुत छपा हुआ है।

अर्थ : जो गृहस्थ अन्तरात्मा होकर बाह्यरूप से गृहस्थ धर्म का परिपालन करता है, वह निश्चित् ही पुनः पुनः दुःख रूप योनियों में नहीं आता है।

भावार्थ : आत्मा शब्द की परिभाषा करते हुए ब्रह्मदत्त ने लिखा है कि **"अतधातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्त्तते। गमन शब्देनात्र ज्ञानं भण्यते "सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात् "। तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादि गुणेषु आसमन्तात् अतति वर्त्तते यःस आत्मा भण्यते। अथवा शुभाशुभ मनो वचनकाय व्यापारैर्यथासम्भवं तीव्र मन्दादिरूपेण आसमन्तादतति वर्त्तते यः स आत्मा। अथवा उत्पादव्यय ध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्त्तते यः स आत्मा।"**

(बृहद द्रव्यसंग्रह-५७)

अर्थ : अत् धातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थ में वर्तता है और "सब गमनरूप अर्थ के धारक धातु ज्ञान अर्थ के धारक हैं " इस वचन से यहाँ पर गमन शब्द करके ज्ञान कहाँ जाता है। इस कारण जो यथासम्भव ज्ञान सुख आदि गुणों में पूर्ण रूप से वर्तता है। वह आत्मा है। अथवा शुभ अशुभ रूप जो मन-वचन काय के व्यापार हैं, उन कर के यथासंभव तीव्र मन्द आदि रूप से जो पूर्ण रूप से वर्त्तता है, वह आत्मा कहलाता है अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनों करके जो पूर्णरूप से वर्त्तता है, उसको आत्मा

कहते हैं।

उस आत्मतत्त्व का लक्ष्य निज की ओर हो जाता है, तब उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

अन्तरात्मा की परिभाषा करते हुए आ. कुन्दकुन्द लिखते हैं कि –

सिविणे वि ण भुंजई विसयाइं देहाई भिण्ण भावमई।
भुंजइवियप्परूवो सिवमुहरत्तो दुमज्झिमप्पो सो।।

(रयणसार - १३३)

अर्थ : देहादिक से अपने को भिन्न समझनेवाला जो व्यक्ति स्वप्न में भी विषयों को नहीं भोगता, परन्तु निजात्मा को ही भोगता है तथा शिव सुख में रत रहता है, वह अन्तरात्मा है।

जो आत्मलक्ष्य को मन में रखकर बाह्य में गृहस्थोचित सम्पूर्ण क्रियाओं का परिपालन करते हैं, वह निकट भविष्य में मोक्ष को प्राप्त करते हैं। उन्हें दुःखदायक सांसारिक योनियों में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य

कृतेन येन जीवस्य पुण्यबन्धः प्रजायते।

तत्कर्त्तव्यं सदान्यद्य न कुर्यादिति कल्पितम् ।। ६०

अन्वयार्थ :

येन	जिसके
कृतेन	करने से
जीवस्य	जीव को
पुण्यबन्धः	पुण्यबन्ध
प्रजायते	होता है
तत्	वह
सदा	सदा
कर्त्तव्यम्	करना चाहिये
अन्यत्	अन्य
अति कल्पितम्	अति-कल्पित कार्य
न	नहीं
कुर्यात	करें।

ज्ञातव्य है कि
श्रावकाचार संग्रह में सदान्यद्य च जगह सदान्यत्र छपा हुआ है।

अर्थ : जिसके करने से जीवों को पुण्य का बन्ध होता है, वह सदा करना चाहिये, जो कल्पित कार्य हैं, उन्हें नहीं करना चाहिये।

भावार्थ : संसार में धर्म के नाम पर संक्लेशों का वर्धन करनेवाले अनेक कार्य प्रचलित हैं, जो मिथ्यात्व एवं असंयम को पुरस्कृत करते हैं। लोक मर्यादा का विरोध करनेवाले वे कार्य आत्म साधना की दृष्टि से भी अयोग्य हैं।

अतएव आचार्य भगवन्त प्रेरणा देते हैं कि जिन कार्यों के करने से पुण्य का विकास व पाप का विनाश होता हो, ऐसे ही कार्य करने चाहिये।

लाटी संहिता में लिखा है कि –

यतः पुण्यक्रियां साध्वी क्वापि नास्तीह निष्फला।

यथापात्रं यथायोग्यं स्वर्ग भोगादि सत्फला ।।४/३८.

अर्थ : पुण्य प्राप्त करानेवाली व्रत रूप श्रेष्ठ क्रिया कभी निष्फल नहीं होती। व्रत पालक जीव जैसा पात्र हो, वह यथायोग्य स्वर्गादिक भोगों को प्राप्त करता है।

गृहस्थाश्रम में प्रचुर आरंभ परिग्रहादि के कारण शुध्दात्म ध्यान रूप निश्चय धर्म संभव नहीं है। अतः उसे पुण्यवर्धन करते हुए आत्मस्थिरता का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

यही बात आचार्य देवसेन को इष्ट है। यथा

"जामण दंडइ गेहं ताम परिहरइ इंतवं पावं,
पावं अपरिहरंतो हेओ पुण्णस्स मा चयउ।" – ३९३
मा मुक्क पुण्णहउं पावस्सासवं अपरिहरंतो य।
बुज्झइ पावेण णरो सो दुग्गइ जाउ मरिऊणं।।३९४

(भावसंग्रह - ३९३-३९४)

अर्थ : इस प्रकार ये गृहस्थ लोग जबतक घर का त्याग नहीं करते, गृहस्थधर्म को छोड़ कर मुनिधर्म धारण नहीं करते, तब तक उनसे ये पाप छूट नहीं सकते । इसलिए जो गृहस्थ पापों को पूर्ण रूप से नहीं छोड़ना चाहते, उन को कम से कम पुण्य के कारणों को तो नहीं छोड़ना चाहिए।"

"जो गृहस्थ पाप रूप का त्याग नहीं कर सकते अर्थात गृहस्थ धर्म नहीं छोड़ सकते, उन को पुण्य के कारणों का त्याग कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि जो मनुष्य सदाकाल पापों का ही बंध करता रहता है, वह मनुष्य मर कर नरकादिक दुर्गति को ही प्राप्त होता है।"

अतः आगमोक्त पुण्यक्रियाओं का समुचित परिपालन करना चाहिये तथा यह ध्यान में रखना चाहिये कि आर्ष मर्यादा से विरुध्द जो कल्पित क्रियायें हैं, उन का त्याग करना चाहिये।

मिथ्यामत को पोषण करने का निषेध

बौध्दचार्वाक-सांख्यादि-मिथ्यानय-कुवादिनाम् ।
पोषणं माननं वापि दातुः पुण्याय नो भवेत् ।। ६१.

अन्वयार्थ :

बौध्द	बौध्द
चार्वाक	चार्वाक
सांख्यादि	सांख्यादि
मिथ्यानय	मिथ्यानय के
कुवादिनाम्	कु - वादियों का
पोषणम्	पोषण
वा	अथवा
माननम्	स्थापन
अपि	भी
दातुः	दाता के लिए
पुण्याय	पुण्य का कारण
नो	नहीं
भवेत्	होता है।

अर्थ : बौध्द, चार्वाक, सांख्यादि मिथ्यानय के प्रवाचक कु - वादियों का पोषण अथव मानन दाता के लिए पुण्य का कारण नहीं होता है।

भावार्थ : संसार में अनेक प्रकार के दर्शन हैं, जिनकी अटपटी मान्यतायें मोक्षार्थ जीवों को संसार में भटकाने वाली है। मूलतः दर्शनों के दो भेद हैं, वैदिक दर्शन एव अवैदिक दर्शन। जो वेदों को प्रमाण मानते हैं, वे वैदिक दर्शन हैं। सांख्य, मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक, जैमिनीय और योग ये छह वैदिक दर्शन हैं। अवैदिक दर्शन के दो भेद हैं, आस्तिक और नास्तिक। जैन और बौध्द आस्तिक दर्शन हैं, तो चार्वाक नास्तिक दर्शन है।

इन सब का स्वरूप निम्नांकित है।

१. बौध्द दर्शन : बौध्ददर्शन में बुध्द देवता है। बुध्द का द्वितीय नाम सुगत है अतः इसे सौगत दर्शन भी कहते हैं। बौध्ददर्शन में ४ आर्यसत्य माने गये हैं। दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग।

चमर धारण करना, मुण्डन करना, चर्म का आसन और कमण्डलु ये बौध्द साधुओं के बाह्य लिंग है। धातु से रंगा हुआ घुटने तक का वस्त्र उन का वेष है।

धर्म, बुध्द और संघ ये उन के रत्नत्रय हैं। विज्ञान, वेदना, संज्ञा संस्कार और रूप ये पाँच स्कंध उन्होंने माने हैं। इन पाँच स्कंधों से ही विश्वोत्पत्ति मानने के कारण, उस से भिन्न वे आत्मा को स्वीकार नहीं करते हैं। ये संसार की समस्त वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं। मरे हुए प्राणी का मांस खाने में ये लोग कोई दोष नहीं मानते हैं।

धर्मोत्तर - अर्चट - धर्मकीर्ति - प्रज्ञाकर, दिग्नाग आदि बौध्द दर्शन के मुख्य ग्रंथकार हैं,तो तर्कभाषा, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, प्रमाण वार्तिक और न्यायप्रवेश आदि प्रमुख ग्रंथ हैं।

हीनयान, महायान, योगाचार और माध्यमिक के भेद से वे चार प्रकार के हैं।

२. चार्वाक : चारु और वाक् दोनों शब्दों को मिलाने पर चार्वाक शब्द बनता है, उसका अर्थ है, सुन्दर बोलनेवाले। इनके गुरु बृहस्पति हैं। अतः इस मत को बार्हस्पत्य भी कहते हैं।

चार्वाक साधु किसी भी वर्ण के होते हैं। कापालिकों की तरह वे भी खप्पर रखते हैं, शरीर में भस्म लगाते हैं। ये आत्मा, पुण्य - पाप आदि पदार्थों को स्वीकार नहीं करते हैं। इन के मत में मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना हैं। वाममार्गी लोगों के समान ये लोग भी मद्यपान, मांसभक्षण, अगम्यागमन आदि कार्य धर्मभक्ति से करते हैं।

वे पुनर्भव को स्वीकार नहीं करते हैं। अतः उन का कथन है कि –

यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभुतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

अर्थ : जबतक जीओ सुखपूर्वक जीओ, ऋण लेकर भी घी पीओ। जब देह भस्म हो जायेगा, तब पुनरागमन कैसे होगा?

इन का कोई प्रसिध्द ग्रंथ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

३. सांख्यादि : सांख्यादि शब्द से वैदिक षट् दर्शनों का ग्रहण किया गया है।

अ) सांख्य : इस दर्शन के प्रणेता कपिल ऋषि हैं। प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों से वे सृष्टि की संरचना को स्वीकार करते हैं। उस में से वे पुरुष को निर्गुण - निराकार - निर्लिप्त - अतिसूक्ष्म - निष्क्रिय तथा इन्द्रियातीत मानते हैं । प्रकृति जड़ है । वह व्यक्त और अव्यक्त रूप में दो प्रकार की है। भागवत् में इस मत का बहुत वर्णन प्राप्त होता है।

सांख्य मतानुयायी ईश्वर को स्वीकार नहीं करते तथा यज्ञादि क्रियाओं को भी स्वीकार नहीं करते।

सांख्य कारिका, सांख्य तत्त्व कौमुदी, युक्तिदीपिका, माठर वृत्ति, गौड़पाद भाष्य ये इन के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। भार्गव, वाल्मिकि, हारीति, देवल, सनक, अंगिरा और सनत्कुमारादि इन के मुख्य प्रचारक हैं।

ब) न्याय दर्शन : इस दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं । इन्हें अक्षपाद भी कहते हैं। इतिहासकारों के अनुसार वे ई. पू. ५०० में हुए थे।

न्याय दर्शन में १६ तत्त्व माने हैं। इस दर्शन का परमाणु कारणतावाद दार्शनिकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करता है। सुख दुःखात्मक मनोवृत्ति का नाश हो जाने पर मन साम्यावस्था को प्राप्त होता है - इसे ही वे मुक्ति मानते हैं। ईश्वर अनुमानगम्य है। मुक्ति के दो भेद वे मानते हैं - पर और अपर। जीवनमुक्ति अपर है तो विदेह मुक्ति पर है।

तत्त्वचिन्तामणि, न्यायवार्तिक, न्यायकलिका, न्यायमंजरी आदि इन के प्रमुख ग्रंथ हैं तो वाचस्पति, गंगेशादि ग्रंथकार हैं।

क) वैशेषिक दर्शन : महर्षि कणाद इस मत के प्रवर्तक हैं। वे मानते हैं कि समस्त जगत् की रचना परमाणुओं से होती है। वे परमाणु जब एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं, तब प्रलय हो जाता है। जब वे परमाणु परस्पर में मिल जाते हैं, तब भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपों व नामों की रचना करने लगते हैं, उस से जगत् का आविर्भाव होता है।

इस मतानुसार पदार्थ सात होते हैं - द्रव्य - गुण - कर्म - सामान्य - विशेष - समवाय तथा अभाव।

ईश्वर या ब्रह्मा इन्हें मान्य नहीं है। वे समझाते हैं कि मनुष्य इस संसार में आकर पदार्थों के रूप स्वभाव गुणधर्म को ठीक-ठीक समझ जाये, ताकि उस का व्यवहार सम्यक् हो। इस से मोक्ष प्राप्त होता है।

वैशेषिक सूत्र, तर्क कौमुदी, किरणावली, लीलावती, तर्क संग्रह और तर्कामृत ये उनके प्रमुख ग्रंथ हैं तो श्रीधर, व्योमशेखर, उदयन, वत्स आदि अनेक प्रमुख लेखक हैं।

ड) योगदर्शन : इस दर्शन के आद्य प्रवर्तक हिरण्यगर्भ अर्थात् स्वयंभू हैं। प्रसिध्द व्याकरणकार पतंजलि इस योग दर्शन के व्यवस्थापक माने जाते हैं।

इस दर्शन में चित्त ही एक तत्त्व है। चित्त की वे पाँच दशाएं स्वीकार करते हैं, क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त निरुध्द एकाग्र इन में से एकाग्र व निरुध्द दशा को वे प्रशस्त मानते हैं।

योग का अर्थ समाधि है। **यथा- योगश्चित्तवृत्ति निरोध :** (योगदर्शन - २)

उस के लिए वे अष्टांग का उपदेश देते हैं। उन का वस्तुवाद का चिन्तन दार्शनिक दृष्टि से इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि वह मायावाद का निराकरण करता है। वह वस्तुओं की यथार्थता को स्वीकार करता है।

पातंजलि योगदर्शन या योगवार्तिक आदि इन के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं, तो नागोजी भट्ट व विज्ञानभिक्षु इन के प्रमुख ग्रंथकार हैं।

इ) जैमिनीय दर्शन : मीमांसा दर्शन के दो भेद हैं, पूर्व मीमांसा व उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा को ही जैमिनीय दर्शन कहते हैं। इस के प्रवर्तक जैमिनीय ऋषि हैं। वे वेदव्यास के शिष्य थे, ऐसा इतिहासकारों का मानना है। इतिहासकारों का यह कथन है कि ई. पू. २०० में जैमिनी सूत्र की रचना हो चुकी थी।

इस का मुख्य विषय यद्यपि कर्मकाण्ड सम्बन्धी ब्राह्मण वाक्यों की संगति लगाना है परन्तु सातवीं शताब्दी से यह विशुध्द दार्शनिक विवेचन की ओर प्रवृत्त हुआ। इस का

सम्पूर्ण श्रेय कुमारिल भट्ट व प्रभाकर भट्ट को जाता हैं। इस मत में कर्म फल का दाता कर्म है, ईश्वर नहीं, अतः इसे निरीश्वर वादी भी कहते हैं।

वे शब्द की नित्यता को स्वीकार करते हैं। इस दर्शन के अनुसार कर्म से अदृष्ट उत्पन्न होता है तथा अदृष्ट संकल्पित सिध्दियों को प्रदान करता है।

इस दर्शन के मुख्य ग्रंथकार कुमारिल भट्ट, प्रभाकर भट्ट और मुरारि भट्ट प्रभृति हैं तथा श्लोकवार्तिक, कासकृत्स्न मीमांसा, न्याय प्रकाश तथा जैमिनीय न्यायमाला आदि प्रमुख ग्रंथ हैं।

ई) मीमांसा दर्शन : मीमांसा यानि समीक्षा। पूर्व और उत्तर के भेद से ये दो प्रकार की हैं। पूर्व मीमांसा जैमिनीय दर्शन है तो उत्तर मीमांसा वेदान्त दर्शन है।

वेदान्तियों का कथन है, कि ब्रह्म-आत्मा-परमात्मा-सृष्टि आदि की समस्या वेदान्त द्वारा ही सुलझ सकती है। इस दर्शन का मूल लक्ष्य ब्रह्म का अन्वेषण करना है। द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत-चित्राद्वैत, निर्गुण-सगुण आदि समस्त मान्यतायें इस में समाविष्ट हो जाती है। उपनिषद इस दर्शन का मूल स्त्रोत है। वे मात्र ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि सम्पूर्ण जीवसृष्टि परमात्मा (ब्रह्म) का प्रतिबिम्ब मात्र है।

आश्मरथ्य, शंकराचार्य, मण्डनमिश्र, सुरेश्वर, वाचस्पतिमिश्रादि इन के प्रमुख ग्रंथकार हैं, तो खण्डन खण्ड खाद्य, अद्वैतसिध्दि, न्याय मकरंद, न्याय दीपावलि आदि प्रमुख ग्रंथ हैं।

संसार के ये समस्त दर्शन स्याद्वाद चिह्नांकित न होने से मिथ्या हैं। फलतः संसार के ही कारण हैं।

अतः जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों का पोषण नहीं करना चाहिये।

मर्यादा पालन

स्वकीयाः परकीया वा मर्यादा-लोपिनो नराः।
न माननीयाः किं तेषां तपो वा श्रुतमेव च।। ६२.

अन्वयार्थ

स्वकीया	स्वकीय
वा	अथवा
परकीया	परकीय
मर्यादा	मर्यादाओं का
लोपिनः	लोप करने वाले
नराः	मनुष्य
माननीया	माननीय
न	नहीं होते
तेषाम्	उनके
तपः	तप
वा	अथवा
श्रुतमेव च	श्रुत से
किम्	क्या लाभ?

टिप्पणी : मेरी दृष्टि में "तपसा वा श्रुतेन च" ऐसा पाठ होना चाहिये क्योंकि श्लोकगत पाठ अशुध्द प्रतीत होता है। श्रुत के साथ प्रयुक्त एवं शब्द तथा गाथागत च शब्द अर्थबोध कराने में असमर्थ है।

कृपया - बहुश्रुतज्ञ इसका विचार करें।

अर्थ : स्वकीय अथवा परकीय मर्यादा का लोप करनेवाला मनुष्य चाहे तपस्वी हो अथवा श्रुत ज्ञानी हो, वह मान्य नहीं है।

भावार्थ : नीतिगत बन्धन अथवा शिष्टाचार के नियम को मर्यादा कहते हैं। मर्यादा लोक व्यवहार को सुचारु रूप से चलाती है। मर्यादा का लोप करनेवाला नर आत्मघाती तो है ही, साथ ही साथ धर्मघाती भी हैं।

प्रत्येक पद के साथ मर्यादा लगी हुई है। उन मर्यादाओं का लोप करनेवाला जीव चाहे द्वादशांग श्रुत का पाठी हो अथवा द्वादश तपों का अनुष्ठान करनेवाला तपस्वी हो - उन्हें जग में पूज्यता प्राप्त नहीं होती।

नीतिकार का कथन है कि - **यद्यपि सत्यं लोकविरुध्दं न करणीयं नाचरणीयम् ।** सत्य होते हुए भी लोक विरुध्द कार्यों को नहीं करना चाहिये।

व्रत - रक्षा

सु-व्रतानि सु-संरक्षन् नित्यादि - महमुध्दरेत् ।
सागारः पूज्यते देवैर्मान्यते च महात्मभिः ।। ६३.

अन्वयार्थ :

सु-व्रतानि	सद् व्रतों की
सु-संरक्षन्	रक्षा करते हुए
नित्यादि	नित्यादि
महम्	पूजा (को)
उध्दरेत्	करें
सागारः	(वह) श्रावक
देवैः	देवों के द्वारा
पूज्यते	पूजा जाता है
च	और
महात्मभिः	महात्माओं के द्वारा
मान्यते	मान्य होता है।

अर्थ : व्रतों का अच्छी तरह संरक्षण करनेवाला गृहस्थ नित्यादि पूजायें करें, तो वह देवताओं के द्वारा पूज्य व महात्माओं के द्वारा मान्य होता है

भावार्थ : चुरादिगणीय मह् धातु से घञ अर्थ में क प्रत्यय करने पर मह शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है आराधना करना, अर्चना करना, सम्मान करना, स्वागत करना, उपहार देना, आदर करना आदि ।

श्लोक में प्रयुक्त महम् शब्द पूजा का समानार्थक शब्द है। पूजा के दो प्रकार हैं नित्यपूजा और नैमित्तिक पूजा।

प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओं में आगमानुकूल द्रव्यों के साथ गृह स्थजो जिनार्चना करता है, वह नित्यपूजा है।

पर्व दिनों में नित्य पूजा के साथ अन्य भी जो पूजाएं की जाती हैं, उन पूजाओं को नैमित्तिक पूजा कहते हैं।

अन्य प्रकार से पूजा के चार भेद हैं - नित्यमह, चतुर्मुख मह, कल्पद्रुम और अष्टाह्निका।

आदिपुराण में इनका स्वरूप निम्नांकित रूपेण पाया जाता है।

नित्यमह : प्रतिदिन अपने गृह से जिनालय में ले जाये गये गन्ध-पुष्प-अक्षत आदि के द्वारा जिन भगवान् की पूजा करना, नित्यमह है। अथवा भक्ति से जिनबिम्ब और जिनालय आदि का निर्माण कराना, उन के संरक्षण के लिए राज्य शासन के अनुसार पंजीकरण करा कर के दान देना, नित्यमह है अथवा अपनी शक्ति के अनुसार मुनीश्वरों को नित्य आहारादि दान देने के साथ जो पूजा की जाती है, वह नित्यमह कहलाती है।

चतुर्मुख मह : महा मुकुट बध्द राजाओं के द्वारा की जानेवाली महापूजा चतुर्मुख मह कहलाती है। इस के महामह और सर्वतोभद्र ये अन्य नाम हैं।

कल्पद्रुममह : चक्रवर्तियों के द्वारा "तुम लोग क्या चाहते हो?" इस प्रकार याचक जनों से पूछ-पूछ कर उन की आशा को पूर्ण करने वाला जो किमिच्छिक दान दिया जाता है, वह कल्पद्रुम मह है।

अष्टाह्निका मह : आषाढ-कार्तिक और फाल्गुन मास में अष्टमी से पौर्णिमा तक अष्टाह्निका पर्व होता है। उस में विशेषता से नन्दीश्वर द्वीप की पूजा की जाती है, उसे अष्टाह्निका मह कहते हैं।

जो श्रावक अपने व्रतों का निर्दोष पालन करता है तथा नित्य व नैमित्तिक पूजा करता है, वह भव्य देवताओं के द्वारा पूज्य व सन्तों के द्वारा मान्य हो जाता है।

प्रायश्चित्त ग्रहण

अतिचारे व्रताद्येषु प्रायश्चित्तं गुरुदितम् ।
आचारेज्जाति - लोपञ्च न कुर्यादतियत्नतः ॥ ६४.

अन्वयार्थ :

व्रताद्येषु	व्रतादिक में
अतिचारे	अतिचार होने पर
गुरुदितम्	गुरु द्वारा कथित
प्रायश्चित्तम्	प्रायश्चित्त को
अतियत्नतः	यत्नपूर्वक
आचरेत्	पालन करें
च	और
जातिलोपम्	जातिलोप
न	न
कुर्यात्	करें।

ज्ञातव्य है कि
श्रावकाचार संग्रह में आचारेत् की जगह आचरेत् छपा है।

टीप्पणी : मेरे दृष्टि में श्लोकगत व्रताद्येषु की जगह व्रतादीषु होना चाहिये। विद्वत् - वर्ग विचार करें।

अर्थ : व्रतों में दूषण लगने पर श्रावक गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त को यत्नपूर्वक पालन करें और जातिलोप नहीं करें।

भावार्थ : प्रत्येक श्रावक सदैव प्रयत्न करता है कि उस के द्वारा गृहीत व्रतों में कोई दूषण न लगे। किन्तु प्रमाद वश या अज्ञानवश कोई न कोई भूल हो जाती है। सजग रहते हुए भी व्रतों में जो दूषण लगता है, उसे अतिचार कहते हैं - यह व्रत का एकदेश भंग करता है।

अतिचार शब्द की परिभाषा करते हुए चामुण्डराय लिखते हैं कि -

कर्त्तव्यस्याकरणे वर्जनीयस्यावर्जने यत्पापं सोऽतिचारः (चारित्रसार)

अर्थ : किसी करने योग्य कार्य को न करने पर अथवा त्याज्य पदार्थ का त्याग न करने पर जो पाप लगता है, उसे अतिचार कहते हैं।

आचार्य अमितगति ने विषयों में वर्तन को अतिचार कहा है।

अतिचारं विषयेषु वर्तनम् (द्वात्रिंशतिका - ९)

अतिचार के लिए आगम में अनेक समानार्थक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। आचार्य श्री समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अतिचार के लिए व्यतिचार(६०), व्यतिक्रम(५६), व्यतीपात(५८), विक्षेप(६२), अत्याशा(७३), व्यतीतय(८१), अत्यय(९६), अतिगम(१०५) व्यतिलंघन(११०) इन शब्दों का प्रयोग किया है ।

आचार्य अकलंक देव अतिचार व अतिक्रम को एकार्थक मानते हैं।

यथा अतिचारः अतिक्रम इत्यनर्थान्तरम् । (राजवार्तिक ७/२३/३)

व्रतों की मर्यादा का उल्लंघन करना, अतिचार है। अतिचार लगने पर श्रावक को गुरु चरणों में जाकर निन्दा गर्हा करते हुए दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त की याचना करनी चाहिये।

"प्रायश्चित्त" को परिभाषित करते हुए आ. श्रुतसागर लिखते हैं कि -

प्रकृष्टो यः शुभावहो विधिर्यस्य साधु लोकस्य स प्रायः प्रकृष्टचारित्रः। प्रायस्य साधुलोकस्य चित्तं यस्मिन् कर्मणि तत् प्रायश्चित्तमात्मशुध्दिकरं कर्म। अथवा प्रगतः प्रणष्टः अयः प्रायः अपराधस्तस्य चित्तं शुध्दिः प्रायश्चित्तं। कारस्करादित्वात्सकारागमः

"प्रायः इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ।
तस्य शुध्दिकरं कर्म प्रायश्चित्तं तदुच्यते ।।"

(तत्त्वार्थवृत्ति ९/२०)

अर्थ : जो साधुलोक की उत्कृष्ट शुभावह विधि है, वा उत्कृष्ट चारित्र है वह प्राय कहलाता है। प्राय का (साधुलोक) का चित्त जिस कर्म में उपयुक्त हो, उस को प्रायश्चित्त कहते हैं, जो आत्मविशुध्दि की प्रक्रिया है। अथवा प्र-नष्ट हो गया है अयः अपराध जिस से, उस के चित्त की शुध्दि हो गई है, उस को प्रायश्चित्त कहते हैं। **कारस्करादित्वात्** इस सूत्र से सकार का आगम हुआ है। अर्थात च व छ के परे विसर्ग का 'श' हो जाता हैं। अथवा "प्रायः लोक को कहते हैं और उन लौकिक जनों के मन को चित्त कहते हैं तथा उन लौकिक जनों के चित्त की शुध्दि करनेवाली क्रिया को प्रायश्चित्त कहते हैं।"

प्रायश्चित्त का फल बताते हुए आ. अकलंक देव लिखते हैं कि -

प्रमाद दोष व्युदासः भावप्रसाद नैःशल्यम् अनवस्थावृत्तिः मर्यादाऽत्याग संयमदार्ढ्याराधनादिसिध्द्यर्थं प्रायश्चित्तम् ।।

(राजवार्तिक ९/२२/१)

अर्थ : प्रमाददोष का व्युदास, भावप्रसाद, निःशल्यत्व, अव्यवस्था निवारण, मर्यादा के पालन, संयम की दृढ़ता और आराधना की सिध्दि आदि के लिए प्रायश्चित्त के द्वारा विशुध्द होना, आवश्यक है।

प्रायश्चित्त द्वारा व्रतशुध्दि होती है - अतः गुरु ने दिया हुआ प्रायश्चित्त पूर्ण करें । जातिगत मर्यादा का लोप भी नहीं करना चाहिये।

जैन श्रावक की क्रियाएं

श्रावकाध्ययनं - प्रोक्तं - कर्मणा गृहमेधिता।
सम्मता सर्व जैनानां सा त्वन्या परिपन्थनात् ।। -६५.

अन्वयार्थ :

श्रावकाध्ययनम्	श्रावकाध्ययन में
प्रोक्तम्	कही गयी
कर्मणा	क्रियाओं से (ही)
गृहमेधिता	गृहस्थता है।
सा	वह
तु	नियम से
सर्व	सभी
जैनानाम्	जैनों के लिए
सम्मता	सम्मत हैं
अन्या	अन्य सब
परिपन्थनात्	कुमार्ग हैं।

> **ज्ञातव्य है की**
> श्रावकाचार संग्रह में श्रावकाध्ययनं प्रोक्तं के स्थानपर श्रावकाध्यन प्रोक्त छपा हुआ है।

अर्थ : श्रावकाचारों में कहे हुए आचरण के अनुकूल समस्त क्रियायें सर्व जैनों को मान्य गृहस्थता है। अन्य मार्ग नियमतः कु-मार्ग हैं।

भावार्थ : श्रुतज्ञान के "ग्यारह अंग व १४ पूर्व यह भेद हैं। अथवा अंगबाह्य व अंगप्रविष्ठ ये दो भेद श्रुत ज्ञान के हैं। ग्यारह अंगों में सातवां अंग उपासकाध्ययन है। इसे ही इस श्लोक में श्रावकाध्ययन कहा है।

श्रावकाध्ययन अर्थात् श्रावकाचार में और भी अनेकानेक क्रियाएं कही हैं।
श्रावकों की तिरेपन क्रियाओं का निर्देश करनेवाली गाथा लाटीसंहिता में उध्दृत की हुई है। यथा–

गुण वय तव सम पडिमा दाणं च अणत्थिमियं।
दंसण णाण चरित्तं किरिया तेवण्ण सावयाणं च।।

अर्थ : अष्ट मूलगुण, बारहव्रत, बारह तप, एक समता, ग्यारह प्रतिमा, चार दान, पानी छानकर पीना, रात्रिभोजन त्याग, रत्नत्रय धारण।

श्रावक को प्रतिदिन षड़ावश्यकों का पालन करना चाहिये - ऐसा उपदेश आ. पद्मनन्दि महर्षि ने दिया है।

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।।

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका ६/७)

अर्थ : देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षट् आवश्यक कर्म गृहस्थों के लिए प्रतिदिन करणीय हैं।

इस के अतिरिक्त आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण में गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया आदि क्रियाओं का कथन किया है।

इन का विस्तृत वर्णन तद्तद् ग्रंथों से विस्तार से जान लेना चाहिये।

इस तरह श्रावकाचार प्रणीत क्रियाओं का पालन गृहस्थ को करना चाहिये। श्रावकाचार से बाह्य कर्मकाण्ड कुमार्ग हैं- अतः उनका अवलम्बन नहीं लेना चाहिये।

जैन - विधि

सर्वमेव विधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः सताम् ।
यत्र न व्रत हानिःस्यात् सम्यक्त्वस्य च खण्डनम् ।।६६.

अन्वयार्थ :

सताम्	सज्जनों के द्वारा
प्रमाणम्	प्रमाणभूत
सर्वम्	सब
लौकिकः	लौकिक
विधिः	विधि
जैनः	जैन (विधि)
स्यात्	है
यत्र	जहाँ
सम्यक्त्वस्य	सम्यक्त्व का
खण्डनम्	खण्डन
च	और
व्रतहानिः	व्रतहानि
न	नहीं
स्यात्	होती है।

अर्थ : सज्जन जिसे प्रमाणभूत मानते हैं, ऐसी सर्व लौकिक विधि जैन विधि है। वह विधि सम्यक्त्व का खण्डन और व्रतहानि को नहीं करती है।

भावार्थ : आचार पध्दति द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावों का निमित्त पाकर अपना रूप परिवर्तित करती रहती है। क्रियाओं का हेयत्व और उपादेयत्व परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जैसे कि दृढ़ सम्यग्दृष्टि जीव को भी यदि न्यायालय में जाना पड़े, तो वहाँ गीता पर हाथ रखकर शपथ खानी पड़ेगी कि मैं जो कुछ भी कहूँगा - वह सत्य कहूँगा। वहाँ वह जिनवाणी पर ही हाथ रखूंगा, गीता पर नहीं - ऐसा हठ नहीं कर सकता।

आचार पध्दति में देशीय भेद भी अनेक प्रकार के हैं। ऐसे समय में प्रत्येक विषय पर आगम प्रमाण मिलना, असंभव है। अन्ततोगत्वा स्व-विवेक ही कार्यकारी है। विज्ञान की प्रगति के कारण बहुत सी नयी वस्तुयें प्रयोग में आने लगी है- जिस के हेय और उपादेयत्व के विषय में आगम प्रमाण मिलना, संभव नहीं है। वहाँ आगमानुसार तर्क का उपयोग कर के कुछ निर्णय लिये जा सकते हैं। उदाहरण स्वरूप - आइसक्रीम खानी

चाहिये या नहीं? इसमें पाउडर के साथ जिलेटिन नामक जो पदार्थ मिलाया जाता है, उस से मांसाशन का दोष लगता है। "मांस खाना" धर्म मर्यादा के प्रतिकूल है, अतः आइसक्रीम नहीं खानी चाहिये।

इससे विपरीत जब लोग घरों में आइसक्रीम बनवाते हैं, तो उस में पाउडर नहीं मिलाया जाता। दूध में केवल मावा (सूखा) डालकर उसे बनाया जाता है। यदि उस में जलेटिन पाउडर नहीं डाला गया हो, तो शुध्द है।

ऐसे अनेक प्रश्न वर्तमान में एक सद्गृहस्थ के समक्ष उपस्थित होते हैं। उन का निर्णय कैसे करें? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत कारिका में दिया गया है।

ग्रंथकार कहते हैं कि जिन क्रियाओं को सज्जन पुरुष इष्ट मानते हैं, जिन क्रियाओं को करने से सम्यक्त्व एवं चारित्र दूषित नहीं होता, वे सब क्रियाएं जैन क्रियाएं हैं। उन का आचरण करना चाहिये।

अन्तिम मंगल

यो नित्यं पठति श्रीमान् रत्नमालामिमां परम् ।
स शुध्द - भावनोपेतः शिवकोटित्वमाप्नुयात् ।। ६७.

अन्वयार्थ :

यः	जो
श्रीमान्	श्रीमान्
नित्यम्	नित्य
शुध्द भावना	शुध्द भावना से
उपेतः	युक्त होकर
इमाम्	इस
पराम्	श्रेष्ठ
रत्नमालाम्	रत्नमाला को
पठति	पढ़ता है
सः	वह
शिवकोटित्वम्	शिवकोटित्व को
आप्नुयात्	प्राप्त करता है।

ज्ञातव्य है कि श्रावकाचार संग्रह में परम् और शुद्ध भावनोपेतः की जगह पराम् और भावनोनूनं छपा है।

अर्थ : जो भव्य इस रत्नमाला को शुध्द भावना से युक्त होकर पढ़ता है, वह भव्य शिवकोटित्व को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ : इस श्लोक के माध्यम से ग्रंथकार ने ग्रंथ का उपसंहार किया है। तथा ग्रंथ व ग्रंथकार का नाम प्रकट किया है।

ग्रंथकार कहते हैं "जो इस रत्नमाला को पढ़ते हैं, वे शिवकोटि को प्राप्त करते हैं।

यहाँ रत्नमाला शब्द के दो अर्थ हैं। १) प्रस्तुत ग्रंथ का नाम तथा २) सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप रत्नों की माला।

शिवकोटि ग्रंथकार का नाम है - परन्तु यहाँ वह अनेक अर्थों को द्योतित करता है। यथा –

शिव : मंगल, मोक्ष, कल्याण, सौभाग्यशाली और सफल आदि।

कोटि : करोड़ चरम सीमा का किनारा, पराकाष्ठा और श्रेणी आदि, इस से शिवकोटि के अर्थ हुए –

१. जिस ने करोड़ों कल्याणों को प्राप्त कर लिया है।

२. जो सौभाग्यशालियों की श्रेणी में विराजित है।

३. जिस नें मंगल की चरम सीमा प्राप्त कर ली है।

४. जिस ने मोक्ष की प्राप्ति कर ली है।

५. जो सफलता की पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है।

साथ में ग्रंथकार ने पढ़नेवाले की पात्रता तथा ग्रंथ पढ़ने की विधि लिखी है।

पढ़नेवाला श्रीमान् हो अर्थात् सम्मानित-कीर्तिशाली हो तथा वह शुध्द भावना से युक्त हो कर ग्रंथ पढ़े।

(परिशिष्ट - १)

कौन कौन सी भक्ति कहाँ कहाँ करनी चाहिये इसका स्पष्ट विवरण

कार्य	भक्ति
जिन प्रतिमावंदन	चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, लघु
आचार्य वंदना (गवासन से)	सिध्द भक्ति, लघु आचार्यभक्ति
सिध्दांतवेत्ता आचार्य की वंदना	सिध्दभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति
साधारण मुनियों की वंदना	सिध्दभक्ति
सिध्दांतवेत्ता मुनियों की वंदना	सिध्दभक्ति, श्रुतभक्ति
स्वाध्याय का प्रारम्भ	लघुश्रुत भक्ति . आचार्य भक्ति
स्वाध्याय की समाप्ति	लघु श्रुत भक्ति
आचार्य की अनुपस्थिति में पहले दिन उपवास वा प्रत्याख्यान ग्रहण किया हो तो दूसरे दिन आहार के समय	सिध्द भक्ति पढकर उसका त्याग वा आहार के लिये गमन
आहार की समाप्ति पर अगले दिन के उपवास वा प्रत्याख्यान का ग्रहण करने में	**सिध्दभक्ति**
आचार्य की उपस्थिति में आहार के लिये जाने के पहले	लघु योगिभक्ति, लघु सिध्दभक्ति
आहार के अनंतर प्रत्याख्यान वा उपवास की प्रतिज्ञा के लिये	लघु योगिभक्ति, लघु सिद्धभक्ति
आचार्य वंदना	लघु आचार्य भक्ति

चतुर्दशी के दिन त्रिकाल वंदना के लिये	चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति अथवा सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरु भक्ति, शांतिभक्ति ।
नंदीश्वर पर्व में	सिद्धभक्ति, नंदीश्वरभक्ति, पंचगुरुभक्ति, शांतिभक्ति ।
सिद्धप्रतिमा के सामने	सिद्धभक्ति
तीर्थंकर के जन्म दिन	चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति अथवा सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुलभक्ति, पंचगुरुभक्ति, शांतिभक्ति
अष्टमी चतुर्दशी की क्रिया में अपूर्व चैत्यवंदना वा त्रिकाल नित्यवंदना के समय	चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, शांतिभक्ति ।
अभिषेक वंदना	सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति शांतिभक्ति
स्थिरबिंबप्रतिष्ठा	सिद्धभक्ति, शांतिभक्ति
चलबिंबप्रतिष्ठा	सिद्धभक्ति, शांतिभक्ति
चल बिंबप्रतिष्ठा के चतुर्थ अभिषेक में	सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचमहागुरुभक्ति, शांतिभक्ति
तीर्थंकरों के गर्भजन्मकल्याणक में	सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, शांतिभक्ति ।
दीक्षाकल्याणक	सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, शांतिभक्ति ।

ज्ञानकल्याणक	सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि , निर्वाण और शांति-भक्ति
निर्वाणकल्याणक	सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि, निर्वाण और शांति भक्ति ।
वीरनिर्वाण-सूर्योदय के समय	सिद्धभक्ति, निर्वाण, पंचगुरु, शांतिभक्ति ।
श्रुतपंचमी	वृहत्सिद्धभक्ति, बृहतश्रुतभक्ति श्रुतस्कंध की स्थापना, बृहत् वाचना, बृहत श्रुत भक्ति, आचार्य भक्ति पूर्वक स्वाध्याय श्रुत भक्ति द्वारा स्वाध्याय की पूर्णता अंत में शांति भक्ति कर क्रिया की पूर्णता ।
श्रुतपंचमी के दिन गृहस्थों को	सिद्ध, श्रुत, शांतिभक्ति ।
सिद्धांत वाचना	सिद्धश्रुतभक्ति द्वारा प्रारंभ श्रुतभक्ति आचार्यभक्ति कर वाचना अंत मे श्रुत और शांति भक्ति ।
गृहस्थों को संन्यास के प्रारंभ में	सिद्ध, श्रुत, शान्तिभक्ति
गृहस्थों को संन्यास के अन्त में	सिद्ध, श्रुत, शान्तिभक्ति
वर्षायोग धारण करते समय	सिद्ध, योगि, चैत्यभक्ति ।
वर्षायोग धारण की प्रदक्षिणा में	यावंति जिनचैत्यानि, स्वयंभूस्तोत्र की स्तुति चैत्यभक्ति
वर्षायोग स्वीकार करते समय	गुरुभक्ति, शांतिभक्ति वर्षायोग धारण करने की पूर्व विधि

वर्षायोग की समाप्ति में

सिध्द, आचार्य, शांतिभक्ति

आचार्यपद ग्रहण करते समय

सिध्द, योगि, शांतिभक्ति

प्रतिमायोग धारण करने वाले
मुनि की वंदना करते समय

बृहात्सिध्दभक्ति, योगिभक्ति

दीक्षा ग्रहण करते समय

सिध्दभक्ति

दीक्षा के अन्त में

लघु सिध्दभक्ति, लघु योगिभक्ति

केशलोंच करते समय

सिध्दभक्ति

लोंच के अन्त में

सिध्द, प्रतिक्रमण, वीरभक्ति,
चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्ति

प्रतिक्रमण में

योगिभक्ति

रात्रियोग धारण

योगिभक्ति

रात्रियोग का त्याग

समाधिभक्ति

देववंदना में दोष लगने पर

सामान्य ऋषि के स्वर्गवास
होनेपर उनके शरीर और
निषद्या की क्रिया में

सिध्द, योगि, शांतिभक्ति

सिध्द, श्रुत, योगि, शांतिभक्ति

सिध्दांतवेत्ता साधु के स्वर्गवास में

सिध्द, चारित्र, योगि, शांति-
भक्ति

उत्तर गुणधारी सिध्दांत वेत्ता
साधु के स्वर्गवास पर

आचार्य के स्वर्गवास होने पर	सिध्द, श्रुतयोगि, आचार्य शान्ति भक्ति
सिध्दान्तवेत्ता आचार्य के स्वर्गवास होने पर	सिध्द, योगि, आचार्य, शान्ति भक्ति
उत्तर गुणधारी आचार्य के स्वर्गवास पर	सिध्द, श्रुत, योगि, आचार्य, शान्ति भक्ति
उत्तर गुणधारी सिध्दान्तवेत्ता	सिध्द, चारित्र, योगि, आचार्य शान्ति भक्ति
आचार्य के स्वर्गवास पर	सिध्द, श्रुत, योगि, आचार्य, शान्ति भक्ति
पाक्षिक प्रतिक्रमण में	सिध्द, चारित्र, प्रतिक्रमण, वीर भक्ति, चतुर्विंशति भक्ति, चारित्रालोचना, गुरुभक्ति, बृहदालोचना, गुरु भक्ति, लघु आचार्य भक्ति ।
चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में	सिध्द, चारित्र, प्रतिक्रमण वीरभक्ति, चतुर्विंशति भक्ति चारित्रालोचना, गुरुभक्ति, बृहदालोचना, गुरुभक्ति, लघु आचार्य भक्ति ।
वार्षिक प्रतिक्रमण में	" " "

यह परिशिष्ट हम ने विमल भक्ति संग्रह से उद्धृत किया है ।

- सम्पादक

परिशिष्ट -२

अ

१. अणुव्रतानि पञ्चैव १४
२. अतिकांक्षा हता येन ४४
३. अतिचारे व्रताद्येषु ६४
४. अबध्दायुष्क पक्षे तु ११
५. अमीषां पुण्यहेतूनां ९
६. अष्टम्यां सिध्दभक्त्या ५३

आ

७. आहाराभय भैषज्य ३१

उ

८. उत्तुंग तोरणोपेतं ३३

क

९. कलौ काले वने वासो २७
१०. कृतेन येन जीवस्य ६०
११. क्रियास्वन्यासु शास्त्रोक्त ५७

ग

१२. गम्मूतोऽशुचि वस्तूना ४७
१३. गार्हस्थ्यं बाह्यरूपेण ५९
१४. गुणव्रतानामाद्यं स्याद् १६
१५. गौभूमि स्वर्ण कच्छादि ३५

च

१६. चतुर्दश्यां तिथौ सिध्द ५५
१७. चतुःसागर सीमाया ४१
१८. चर्म पात्रगतं तोयं २६
१९. चिदानंद परंज्योतिः ५८

छ

२०. छत्रचामर वाजीभ ४९

ज्ञ

२१. ज्ञान संयम शौचादि २९

त

२२. तिल तण्डल तोयं च २२
२३. तेषाम्रैर्गन्ध्य पूतानां २८

द

२४. दयादत्त्यादिभिर्नूनं ३७
२५. दशन्ति तं न नागाद्या ५०
२६. दिगम्बरो निरारम्भो ८
२७. देवार्षीणा प्रशौचाय २४

न

२८. नन्दीश्वरे दिने सिध्द ५६
२९. नित्य नैमित्तिकाः कार्याः ५२
३०. निर्विकल्पश्चिदानन्दः ७

प

३१. पञ्चसूना कृतं पापं ३०
३२. पाक्षिकक्याः सिध्दचारित्र ५४
३३. पाषाण स्फोटितं तोयं २३
३४. प्रतिमाः पालनीयाः स्यु २५

ब

३५. बौध्द चार्वाक सांख्यादि ६१

भ

३६. भोगोपभोग संख्यानं १७

म

३७. मद्य-मांस मधु त्याग १९
३८. मद्य मांस मधु त्याग ४५
३९. मद्यस्यावद्य मूलस्य ४६
४०. मनोवचनकायैर्यो ३९
४१. महाव्रताणुव्रतयो १२
४२. मारणान्तिक सल्लेख्य १८
४३. मातृ पुत्री भगिन्यादि ४२
४४. मुहूर्त गालितं तोयं २१

य

४५. याः याः समग्र शोभाद्या ४३
४६. येन श्रीमज्जिनेशस्य ३४
४७. येनाद्यकाले यतीनां वैः ३२
४८. यो नित्यं पठति श्रीमान् ६७

र

४९. रात्रौ स्मृत नमस्कारः ५१

व

५०. वर्धमान जिनाभावाद् ५

५१. वस्त्रपूतं जलं पेयं २०

५२. विरत्यासंयमेनापि १०

५३. व्यसनानि प्रवर्ज्यानि ४८

५४. व्रत शीलानि यान्येव ३८

श

५५. श्रावकाध्ययनं प्रोक्तं ६५

स

५६. संवेगादि परः शान्तः १३

५७. सदावदात महिमा ३

५८. सम्यक्त्वं सर्वजन्तूनां ६

५९. सर्वज्ञं सर्ववागीशं १

६०. सर्वमेवविधिर्जैनः ६६

६१. सारं यत्सर्वसारेषु २

६२. सिध्दान्ताचार शास्त्रेषु ३६

६३. सुव्रतानि सु-संरक्षन् ६३

६४. सुस्वरः स्पष्ट वागिष्ट ४०

६५. स्वकीयाः परकीया वा ६२

६६. स्वामी समन्तभद्रो मे ४

ह

६७. हिंसातोऽसत्यतश्चौर्यात् १५

परिशिष्ट - ३

पाठभेद

हमें मूल हस्तलिखित प्रति तो प्राप्त हुई नहीं। जिन दो प्रतियों का प्रयोग कर के हम ने टीका की है, वे हैं -

१. श्रावकाचार संग्रह - भाग ३ पृष्ट ४१० (प्रति अ)

२. रत्नमाला (अजमेर से प्रकाशित) (प्रति ब)

इन दोनों में कुछ श्लोक में अन्तर है। यहाँ हम श्लोक का प्रथमपाद दे रहे हैं तथा साथ में दोनों प्रति को क्रम से अ व ब कहकर उसमें उल्लिखित श्लोक क्रमांक दे रहे हैं। हमें ब प्रति का क्रम विषयों के अनुरूप प्रतीत होने से ग्रंथ-टीका के समय हमने वही क्रम रखा है।

क्र.	श्लोक	प्रति अ	प्रति ब
१.	सर्वज्ञं सर्ववागीशं	१	१
२.	सारं यत्सर्वसारेषु	२	२
३.	सदावदात महिमा	३	३
४.	स्वामी समन्तभद्रो मे	४	४
५.	वर्धमान जिनभावाद्	५	५
६.	सम्यक्त्वं सर्वजन्तूनां	६	६
७.	निर्विकल्पश्चिदानन्दः	७	७
८.	दिगम्बरो निरारम्भो	८	८
९.	अमीषां पुण्यहेतूनां	९	९
१०.	विरत्या संयमेनापि	१०	१०
११.	अबध्दायुष्क पक्षे तु	११	११
१२.	महाव्रताणुव्रतयो	१२	१२
१३.	संवेगादि परः शान्त	१३	१३
१४.	अणुव्रतानि पञ्चैव	१४	१४
१५.	हिंसातोऽसत्यतश्चौर्यात्	१५	१५
१६.	गुणव्रतानामाद्यं स्याद्	१६	१६
१७.	भोगोपभोग संख्यानं	१७	१७
१८.	मारणान्तिक सल्लेख्य	१८	१८
१९.	मद्य-मांस-मधु त्याग	१९	१९
२०.	वस्त्रपूतं जलं पेयं	२०	२०
२१.	मुहूर्तं गालितं तोयं	६१	२१

२२.	तिल तण्डुल तोयं च	६२	२२
२३.	पाषाण स्फोटितं तोयं	६३	२३
२४.	देवार्षीणां प्रशौचाय	६४	२४
२५.	प्रतिमाः पालनीयाः स्यु	२१	२५
२६.	चर्मपात्रगतं तोयं	६६	२६
२७.	कलौ काले वनेवासो	२२	२७
२८.	तेषान्नैर्ग्रन्थ्य पूतानां	२३	२८
२९.	ज्ञान संयम शौचादि	२४	२९
३०	पञ्च सूना कृतं पापं	५९	३०
३१.	आहाराभयभैषज्य	६०	३१
३२.	येनाद्यकाले यतीनां वै	२५	३२
३३.	उत्तुंग तोरणोपेतम्	२६	३३
३४.	येन श्रीमज्जिनेशस्य	२७	३४
३५.	गौ-भूमि-स्वर्ण-कच्छादि	२८	३५
३६.	सिध्दान्ताचार शास्त्रेषु	२९	३६
३७.	दयादत्त्याभिर्नूनं	३०	३७
३८.	व्रत शीलानि यान्येव	३१	३८
३९.	मनोवचनकायैर्यो	३२	३९
४०	सु-स्वरः स्पष्ट वागिष्ट	३३	४०
४१.	चतुःसागर सीमाया	३४	४१
४२.	मातृ-पुत्री भगिन्यादि	३५	४२
४३.	याः याः समग्रशोभाद्या	३६	४३
४४.	अतिकांक्षा हता येन	३७	४४
४५.	मद्य-मांस मधु-त्याग	३८	४५
४६.	मद्यस्यावद्य मूलस्य	३९	४६
४७.	गम्भूतोऽशुचि वस्तूना	४०	४७
४८.	व्यसनानि प्रवर्ज्यानि	४१	४८
४९.	छत्र चामर वाजीभ	४२	४९
५०.	दशन्ति तं न नागाद्या	४३	५०
५१.	रात्रौ स्मृत नमस्कारः	४४	५१
५२.	नित्य नैमित्तिकाः कार्याः	४५	५२
५३.	अष्टम्यां सिध्दभक्त्यामा	४६	५३
५४.	पाक्षिक्याः सिध्द चारित्र	४७	५४

५५.	चतुर्दश्यां तिथौ सिध्द	४८	५५
५६.	नन्दीश्वरे दिने सिध्द	४९	५६
५७.	क्रियास्वन्यासु शास्त्रोक्त	५०	५७
५८.	चिदानंद - परंज्योतिः	५१	५८
५९.	गार्हस्थ्यं बाह्यरूपेण	५२	५९
६०.	कृतेन येन जीवस्य	५३	६०
६१.	बौध्द चार्वाक सांख्यादि	५४	६१
६२.	स्वकीयाः परकीया वा	५५	६२
६३.	सुव्रतानि सु-संरक्षन्	५६	६३
६४.	अतिचार व्रताद्येषु	५७	६४
६५.	श्रावकाध्ययनं प्रोक्तं	५८	६५
६६.	सर्वमेव विधिर्जैनः	६५	६६
६७.	यो नित्यं पठति श्रीमान्	६७	६७

परिशिष्ट - ४

(टीका में प्रयुक्त ग्रंथ)

क्र.	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकार
१.	प्रवचनसार	आ. कुन्दकुन्द
२.	प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति	आ. जयसेन
३.	समयसार तात्पर्यवृत्ति	आ. जयसेन
४.	तत्त्वार्थसूत्र	आ. उमास्वामी
५.	सर्वार्थसिध्दि	आ. पूज्यपाद
६.	राजवार्तिक	आ. अकलंक
७.	तत्त्वार्थवृत्ति	आ. श्रुतसागर
८.	सुखबोध टीका	आ. भास्करनन्दि
९.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	आ. समन्तभद्र
१०.	पुरुषार्थ सिध्दयुपाय	आ. अमृतचन्द्र
११.	पूज्यपाद श्रावकाचार	आ. पूज्यपाद
१२.	उमास्वामी श्रावकाचार	आ. उमास्वामी
१३.	धर्मसंग्रह श्रावकाचार	पं. मेधावी
१४.	धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार	ब्रह्म नेमिदत्त
१५.	धवला पुस्तक ९	आ. वीरसेन
१६.	धवला पुस्तक १०	आ. वीरसेन
१७.	धवला पुस्तक १३	आ. वीरसेन
१८.	अष्टसहस्त्री	आ. विद्यानंद
१९.	द्रव्यसंग्रह	आ. नेमीचन्द्र
२०.	चारित्रसार	आ. चामुण्डराय
२१.	पद्मनन्दि पंचविंशतिका	आ. पद्मनन्दि
२२.	सुभाषित रत्न सन्दोह	आ. अमितगति
२३.	यशस्तिलक चम्पू	आ. सोमसेन
२४.	बृहद् द्रव्यसंग्रह	ब्रह्मदत्त
२५.	भावसंग्रह	आ. देवसेन
२६.	सावय धम्मदोहा	आ. देवसेन
२७.	आदिपुराण	आ. जिनसेन
२८.	दर्शन पाहुड	आ. कुन्दकुन्द

२९.	मोक्ष पाहुड	आ. कुन्दकुन्द
३०.	[illegible]	[illegible]
३१.	मूलाचार	आ. कुन्दकुन्द
३२.	रयणसार	आ. कुन्दकुन्द
३३.	सागर धर्मामृत	पं. आशाधर
३४.	अनगार धर्मामृत	पं. आशाधर
३५.	पंचाध्यायी	पं. राजमल
३६.	लाटी संहिता	पं. राजमल
३७.	नियमसार टीका	आ. ज्ञानमती
३८.	ज्ञानार्णव	आ. शुभचन्द्र
३९.	भगवती आराधना	आ. शिवार्य
४०.	अलंकार चिन्तामणि	आ. अजितसेन
४१.	द्वात्रिंशतिका	आ. अमितगति
४२.	स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामी कार्तिकेय
४३.	सुक्ति मूक्तावलि	आ. सोमप्रभ
४४.	ज्ञानांकुश	आ. योगीन्द्रदेव
४५.	स्वयंभूस्तोत्र	आ. समन्तभद्र
४६.	न्यायदीपिका	आ. धर्मभूषण
४७.	पुण्याश्रव कथाकोश	रामचन्द्र मुमुक्षु
४८.	श्रावकाचार सारोध्दार	पद्मनन्दि भट्टारक
४९.	क्रियाकोष	पं. दौलतराम
५०.	ध्यानशतक	–
५१.	पाक्षिक प्रतिक्रमण	–
५२.	नित्य पूजापाठ	–
५३.	सुधा	भारतेन्दु

सुविधि ज्ञान चन्द्रिका ग्रंथ प्रकाशन समिति

के

पूर्व प्रकाशन

क्रम.	नाम	मुल्य
१.	यूं ही खोया	अप्राप्य
२.	भक्तामर स्तोत्रम्	१.५०
३.	धर्म या पंथ	३.००
४.	जातिगत भिन्नता के विचारों की समालोचना	अप्राप्य
५.	सुविधि गीत मालिका	२५.००
६.	सुविधि पूजन प्रदीप	१.००
७.	सुविधि पूजाञ्जलि	१.००
८.	सुविधि भजन गंगा	अप्राप्य
९.	सुविधि गीताञ्जलि	अप्राप्य
१०.	सुप्त शेरों अब तो जागो	३०.००
११.	कैद में फँसी है आत्मा	५.००
१२.	कल्याण मंदिर विधान	१३.००
१३.	ए बे-लगामके घोड़े सावधान	७५.००
१४.	धर्म और संस्कृति	५.००
१५.	सम्बोध पञ्चाशिका	१२.००
१६.	भक्तामर स्तोत्र विधान	१७.००
१७.	जिनगुण सम्पत्ति व्रत विधान	१६.००
१८.	रविव्रत मंडल विधान	१३.००
१९.	रोट तीज व्रत विधान	११.००
२०.	अध्यात्मिक क्रिडालय	३५.००